प्रह्लाद

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

सम्पादक

डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'
पी-एच.डी., डी.लिट्.
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

संयुक्त-सम्पादक

डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
एम.ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व

वर्ष : १९८५] (जौलाई से सितम्बर तक) [अङ्क : ३

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रधान संरक्षक

डॉ० सत्यकाम वर्मा
कुलपति

संरक्षक

श्री रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रकाशक

मेजर वीरेन्द्र अरोड़ा
कुल-सचिव

व्यवस्थापक

जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

* विषय-सूची *

'प्रह्लाद' के मुख-पृष्ठ पर अंकित चित्र का परिचय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के नये कुलपति, संस्कृत-साहित्य और भाषाशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० सत्यकाम जी वर्मा का सार्वजनिक भावभीना अभिनन्दन १३ सितम्बर १९८५ को आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा एवं डी० ए० वी० कालेज प्रबन्धक समिति के संयुक्त तत्वावधान में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर प्रसिद्ध आर्य-संन्यासी स्वामी ओमानन्द जी महाराज, हरियाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के पदाधिकारी तथा दिल्ली आर्य-समाजों और हरियाणा आर्य-समाजों के अनेक आर्य-बन्धु सपरिवार उपस्थित थे। समारोह की अध्यक्षता दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व-संस्कृत-विभागाध्यक्ष तथा जगन्नाथ पुरी विश्वविद्यालय के पूर्व-कुलपति डॉ० सत्यव्रत शास्त्री ने की। (चित्र में) अभिनन्दन का उत्तर देते हुए कुलपति डॉ० सत्यकाम तथा चिन्तनरत डॉ० सत्यव्रत शास्त्री दिखाई दे रहे हैं।

सरस्वती का सम्मान

१२ सितम्बर '८५ को अपराह्न तीन बजे आर्य-बन्धुओं तथा नगर के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों, सम्भ्रान्त नागरिकों, पत्रकारों, अध्यापकों, कर्मचारियों, तथा फार्मेसी के प्रबन्धकों-कर्मचारियों एवं ब्रह्मचारियों से खचा-खच भरे वेदमन्दिर में विश्वविद्यालय के नवनियुक्त कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा कुलपति डा० सत्यकाम वर्मा का भावभीना अभिनन्दन किया गया। समारोह की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध वैदिक-विद्वान् आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड ने की तथा संयोजन गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता डा० हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार ने किया। परिवर्त्तन एक नये चरण का संकेत था और प्रशासनिक पदों पर दो विश्रुत शिक्षा-शास्त्रियों की नियुक्ति सरस्वती का सच्चा सम्मान लग रही थी। डा० सत्यकेतु तथा डा० सत्यकाम दोनों ही गुरुकुल के स्नातक हैं और महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द तथा वैदिक-जीवन-मूल्यों के प्रचार-प्रसार के साथ रचनात्मक लेखन, उच्चतर अध्यापन तथा अनुसन्धान कार्य के साथ जुड़े रहे हैं।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—एक व्यक्ति, एक संस्था

डा० सत्यकेतु प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध विद्वान् हैं। गुरुकुल कांगड़ी की परीक्षाओं की, अंग्रेजी शासन के दौरान मान्यता अपने देश में ही नहीं थी फिर विदेशी विश्वविद्यालयों में मान्यता कहाँ से होती? डा० सत्यकेतु पेरिस में शोधकार्य के लिए गए तो उन्हें इस संकट का सामना करना पड़ा। अपनी योग्यता और विद्वत्ता से यूनि-वर्सिटी के अधिकारियों को असाधारणरूप से प्रभावित कर जहाँ उन्होंने सर्वोच्च उपाधि डी० लिट्० प्राप्त की, वहाँ गुरुकुल की परीक्षाओं की मान्यता भी दिलवा दी। पराधीन भारत में गुरुकुल के गौरव की वृद्धि स्नातक के रूप में विदेशी विश्वविद्यालय में डा० सत्यकेतु ने अपने असाधारण ज्ञान से की, यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। डा० सत्यकेतु गुरुकुल के विजयकेतु सिद्ध हुए। हिन्दी में जिन दिनों इतिहास पर मानक-ग्रन्थ लिखने में भारतीय विद्वानों को भी संकोच होता था, उन दिनों 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' लिखकर डा० विद्यालंकार ने उस सीमा को तोड़ा और शोधपूर्ण उत्कृष्ट ग्रन्थ के रूप में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने उस पर मंगला प्रसाद पारितोषिक प्रदान कर, डा० विद्यालंकार की सेवाओं का हिन्दी-जगत् की ओर से अभिनन्दन किया।

डा० सत्यकेतु इतिहास-लेखक के साथ-साथ उत्कृष्ट कोटि के साहित्यकार भी हैं। उन्होंने मोपाँसा की कहानियों का अनुवाद भी किया। आचार्य चाणक्य, पतन और उत्थान, अन्तर्दाह, सेनानी पुष्यमित्र उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। पाटलिपुत्र की कथा, हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित रचना है और गुरुकुल कांगड़ी प्रकाशन मन्दिर से उनकी पुस्तक अपने देश की कथा भी प्रकाशित हुई। शेष सभी पुस्तकें सरस्वती सदन तथा आर्य स्वाध्याय केन्द्र से छपी हैं। प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन का उन्होंने गहरा अध्ययन किया है। विश्व की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, विदेशी राज्यों की शासन-विधियों, प्रमुख विदेशी राज्यों के संविधानों तथा योरुप के आधुनिक इतिहास के वह विख्यात पण्डित हैं। दक्षिण-पूर्व और दक्षिण एशिया में तथा मध्य-एशिया और चीन में भारतीय संस्कृति का अध्ययन कर उन्होंने बृहत्तर भारत के सम्बन्ध में शोधपूर्ण जानकारियाँ दी हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिकयुग, प्राचीन भारत की शासन-संस्थाएँ और आर्य समाज का इतिहास (अब तक चार खण्ड प्रकाशित) उनके बहुचर्चित ग्रन्थ हैं। उन्होंने पेरिस, लंदन, चीन तथा थाइलैण्ड की यात्रा के दौरान अपने भाषणों से भारतीय गौरव की वृद्धि की। इन सांस्कृतिक यात्राओं में पाश्चात्य तथा भारतीय शिक्षा-दर्शन की समस्याओं को परखा और समझा। ऐसे अनुभवी विद्वान् को कुलाधिपति के रूप में पाकर विश्वविद्यालय निश्चित रूप से आगे बढ़ेगा, इसका हमें पूर्ण विश्वास है। आज हमें व्यक्ति नहीं, व्यक्ति के रूप में एक संस्था मिल गई है।

डा० सत्यकाम वर्मा : एक और पतंजलि

डा० सत्यकाम वर्मा गुरुकुल कांगड़ी के यशस्वी स्नातक हैं और दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष रह चुके हैं। १९४८ में उन्होंने गुरुकुल से आयुर्वेदालंकार की उपाधि, प्राचीन भारतीय तथा आधुनिक चिकित्सा और शल्य विषय लेकर प्राप्त की। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर भारत में आयुर्वेद के प्रथम निदेशक कविराज प्रतापसिंह ने उन्हें राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज इन्दौर में शल्य, रसतंत्र, द्रव्यगुण तथा तुलनात्मक चिकित्सा के अध्यापन के लिए आमंत्रित किया। डा० वर्मा यहीं तक सीमित न रहे। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा दी और उसमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। फिर संस्कृत तथा हिन्दी में एम०ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में ससम्मान उत्तीर्ण की। पंजाब की ही एम०ओ०एल० परीक्षा उत्तीर्ण कर भर्तृहरि के ग्रन्थ वाक्यपदीय का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत कर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की।

१९६० में वह प्रमुख प्राच्य-विद्याविशारद प्रो०जी० तुची के आमंत्रण पर रोम गए। शारदालिपि में विशेष दक्षता प्राप्त होने के कारण वहाँ उन्होंने

प्रसिद्ध गिलगित मैनस्क्रिप्ट का सम्पादन किया। रोम विश्वविद्यालय के प्राच्य अध्ययन विभाग में उन्होंने महाभाष्य तथा पुरालेखशास्त्र का अध्यापन किया। १९८२ में वह योरुप की यात्रा पर गए तथा एम०ई०आर० यूनिवर्सिटीज् द्वारा आयोजित वैदिक विज्ञान संगोष्ठियों में उनके पाण्डित्य की धाक जम गई। १९८३ में दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के दौरान उन्होंने वैदिकसाहित्य, उपनिषद्, गीता, तथा षड्दर्शनों पर अपने विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों से भारतीय ज्ञान की धूम मचा दी। संस्कृत, वैदिकसाहित्य, भारतीय पुराविद्याएँ तथा इतिहास–पुरातत्व की व्यापक जानकारी एवं विद्वत्ता के कारण डा० वर्मा को देश-विदेश में बड़ी ख्याति मिली। रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता तथा प्राच्य संस्थान जापान, टोकियो ने उन्हें मानद सदस्यता प्रदान की। इसके अतिरिक्त वह अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों की पाठ्यक्रम तथा शोध समितियों के भी सदस्य रहे हैं। भारतीय पुरालेखशास्त्र, भारतीय भाषाशास्त्र, भारतीय दर्शन, वैदिक विज्ञान, आयुर्वेद दर्शन तथा योग के डा० वर्मा अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् हैं। संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी में आपकी अबाध गति है और इटेलियन, फ्रेंच, स्पेनिश तथा जर्मनी भाषा की भी जानकारी है।

व्याकरण और प्रातिशाख्यों की दुरूह ग्रन्थियों का उन्होंने निराकरण किया है। पाणिनि के व्याख्याताओं में वे आधुनिक पतंजलि हैं। उनकी प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) उपनिषद् संग्रह (२) वेद वाटिका (३) वैदिक व्याकरण कोश (४) संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास (५) भाषातत्त्व और वाक्यपदीय (६) व्याकरण की दार्शनिक भूमिका (७) वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड (८) स्टडीज इन इन्डोलाजी (९) वैदिक स्टडीज् (१०) प्राचीन भारत (११) सिंधुकालीन सभ्यता (१२) प्राच्य विद्या, कुछ निबन्ध (१३) हिन्दी साहित्यानुशीलन (१४) हिन्दी का आधुनिक साहित्य (१५) युगकवि तुलसी (१६) महाकवि प्रसाद (१७) महाकवि पंत (१८) जनकवि दिनकर (१९) संस्कृत के चार कवि।

डा० वर्मा जैसे वैयाकरण तथा भाषा-शास्त्री को कुलपति के रूप में पाकर विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ा है। यह गौरव इसलिए तो है ही कि प्राच्यविद्याज्ञान के कारण उनके व्यापक सम्मान और अनुभव का लाभ विश्व-विद्यालय को मिलेगा; इसलिए भी है कि वह इसी विश्वविद्यालय के स्नातक हैं और इसके क्रोड़ में रहकर जो साधना उन्होंने की है, वह समय की कसौटी पर उत्तरोत्तर खरी उतरती रही है। सरस्वती की साधना तो बहुत करते हैं पर गुरुकुल में परिश्रम से अध्ययन करने वाला यह सत्यकाम वस्तुतः सरस्वती के रहस्य को जानता है। समुद्र का संतरण तो सभी कर जाते हैं पर समुद्र की गंभीरता को अकेला मेरुपर्वत ही जानता है, जो अपने पुष्ट शरीर से पाताल तक समुद्र

में डूब चुका है।

अस्तु, सगर्व कहा जा सकता है कि कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा कुलपति डा० सत्यकाम वर्मा का सम्मान सरस्वती का सम्मान है। कुलवासियों की ओर से इस अवसर पर इस मनीषी-युगल का हार्दिक अभिनन्दन।

पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न शताब्दी-स्मरण

राजस्थान साहित्य अकादमी इस वर्ष बहुभाषाविद् साहित्यकार पण्डित गिरिधर शर्मा नवरत्न का शताब्दी समारोह धूम-धाम से मना रही है। पण्डित जी का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी वि० सं० १९३८, ईसवी सन् १८८१ में हुआ था। इनके पिता ब्रजेश्वर भट्ट झालावाड़ के राजगुरु थे। इनका जन्म-स्थान झालरा पाटन है जो राजस्थान और मालवा का संगम-स्थल है। नागर ब्राह्मण होने के कारण इनकी मातृभाषा गुजराती थी पर जयपुर और काशी में संस्कृत का विधिवत अध्ययन कर, संस्कृत साहित्य और भाषा पर भी इनका असाधारण अधिकार हो गया। तदुपरान्त आपने हिन्दी, उर्दू, फारसी, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला तथा अंग्रेजी में महारथ हासिल की। अनुवाद करने में आप बड़े सिद्धहस्त थे। उमर खैयाम की रूबाइयों का आपने संस्कृत में अनुवाद किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि का हिन्दी में अनुवाद किया। गीतांजलि का हिन्दी में यह प्रथम रूपान्तरण कहा जा सकता है। गुजराती के लेखक नान्हालाल की रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद किया जिनमें जय जयंत प्रमुख है। माघप्रणीत शिशुपाल वध महाकाव्य का हिन्दी में अनुवाद इसी नाम से किया। झालावाड़ नरेश श्री राजेन्द्र सिंह सुधाकर इन्हीं की प्रेरणा से हिन्दी-लेखन में प्रवृत्त हुए। श्री राजेन्द्रसिंह उर्दू में 'मखमूर' नाम से काव्य-रचना करते थे। 'नवरत्न' जी से प्रभावित होकर आपने मधुशाला, मधुबाला, सुधाकर काव्य-कला तथा शंकर-शतक की रचना की। महारानी श्रीमती हीराकुँवरि देवी गुजराती साहित्य की मर्मज्ञा थीं। महारानी की प्रेरणा से नवरत्न जी ने गुजराती रचनाओं को हिन्दी में अनूदित करने का काम शुरू किया। इससे प्रभावित होकर महाराज राजेन्द्रसिंह ने भी गुजराती के प्रतिष्ठित कवि कलापी की रचनाओं का हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया। मध्यभारत साहित्य समिति ने गीतांजलि के अनुवाद पर एक हजार रुपये का पुरस्कार देकर पण्डित जी को सम्मानित किया था।

पण्डित जी की राई का पर्वत, प्रेमकुंज, युग पलटा, महा सुदर्शन, हिन्दी माघ, उषा, चित्रांगदा, भीष्म प्रतिज्ञा, बागबान, फलसंचय, गुरु महिमा, आरोग्य-दिग्दर्शन, सरस्वती यश, सुकन्या, सती सावित्री, ऋतु विनोद, मातृ वन्दना, शुद्धाद्वैत, सिद्धान्त रहस्य, रत्न करंड, अर्थशास्त्र, व्यापार शिक्षा, प्रमुख रचनाएँ हैं। पण्डित जी नाटक-लेखक होने के साथ-साथ कुशल निर्देशक और सफल अभिनेता भी थे। १९२१ में झालावाड़ में ओपेरा शैली की अंडाकार

नाट्यशाला उनकी अपूर्व सूझ-बूझ का परिणाम है। 'विद्या भास्कर' नामक पत्र का सम्पादन भी आपने किया। आप एक ओर 'संस्कृत चन्द्रिका' तथा 'संस्कृत रत्नाकर' जैसे पत्रों में संस्कृत में लेख लिखा करते थे तो दूसरी ओर काव्य सुधाधर, सरस्वती, मर्यादा, सुधा, माधुरी तथा श्री वेंकटेश्वर पत्रों में हिन्दी में लिखा करते थे। हिन्दी प्रचार के लिए कोटा में भारतेन्दु समिति, झालरा पाटन में राजपूताना हिन्दी साहित्य सभा तथा इन्दौर में मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति की आपने स्थापना कराई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्यवाचस्पति तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्राच्यविद्यामहार्णव की उपाधि से पण्डित जी को विभूषित कर उनके अगाध ज्ञान के प्रति श्रद्धा व्यक्त की। १६३१ में उनकी नेत्रज्योति चली गई। उनकी पत्नी 'रत्न ज्योत्स्ना' लगभग ३० वर्ष तक पण्डित जी से डिक्टेशन लेकर रचनाएँ लिखतीं और प्रकाशनार्थ भेजती रहीं। ३० जून १६६१ में झालरा पाटन में ही पण्डित जी का देहावसान हुआ।

सामन्ती समाज में रहते हुए भी आप राष्ट्रीय भावनाओं तथा समाज-सुधार की चेतना से आकंठ अनुप्राणित रहे। झालरा पाटन के द्वारिकाधीश मन्दिर में १६४२ में हरिजनों के प्रवेश का समर्थन आपने किया तथा झालावाड़ नरेश महाराणा राजेन्द्रसिंह जी, श्रीमती रामेश्वरी नेहरू के साथ हरिजन-बन्धुओं को लेकर दर्शनार्थ स्वयं गए फिर तो रियासत के सभी सार्वजनिक स्थान हरिजनों के लिए खोल दिए गए। राजर्षि टंडन, महामना मालवीय तथा कन्हैयालाल मुंशी से उनके घनिष्ट सम्बन्ध थे। पण्डित जी भाषण बड़े प्रभावशाली ढंग से करते थे। काशी के विद्वत्समाज ने इन्हें 'नवरत्न', भारतधर्म महामण्डल ने 'महोपदेशक', चतुः सम्प्रदाय वैष्णव महासभा ने 'व्याख्यान भास्कर' की उपाधि इनकी वाग्मिता से प्रभावित होकर ही दी।

द्विवेदीयुगीन कवियों में पण्डित जी ने हिन्दी, भारतीयता, राष्ट्रीय एकता तथा सामाजिक कुरीतियों के विरोध पर महत्वपूर्ण कविताएँ लिखीं। खड़ी बोली में घनाक्षरी तथा अतुकान्त रचनाएँ और वर्णिकछन्द उन्होंने लिखे। एक देशभक्तिपरक घनाक्षरी देखिए—

मेरा देश, देश का मैं, देश मेरा जीव प्रान,
मेरा सनमान मेरे देश की बड़ाई में।
जियूँगा स्वदेश हित, मरूँगा स्वदेश काज,
देश के लिए न कभी करूँगा बुराई मैं।
भीषण भयंकर प्रसंग में भी भूल के भी,
भूलूँगा न देशहित राम की दुहाई मैं।
जब लौं रहेगी साँस सर्वस भी लुटा दूँगा,
ईश को भी झुका लूँगा देश की भलाई में।

हिन्दी के प्रति उनकी इतनी निष्ठा थी कि १९१८ में बम्बई में आयोजित सभा में सभाध्यक्ष मालवीय जी से उन्होंने कहा था कि आप हिन्दू यूनिवर्सिटी को हिन्दी विश्वविद्यालय बना दें तो मैं वहाँ आऊँ। हिन्दी की आवश्यकता पर उन्होंने एक छन्द पण्डित रामनरेश त्रिपाठी को लिखकर भेजा था—

अंगरेजी, जरमन फ्रेंच ग्रीक लैटिन त्यों,
रसियन जपानी चीनी प्राकृत प्रमानी हो।
तामिल तैलंगी तूलू द्राविड़ी मराठी ब्राह्मी,
उड़िया बंगाली पाली गुजराती छानी हो।
जितनी अनार्य आर्य भाषा जग जाहिर है,
फारसी ऐराबी तुर्की सब मन आनी हो।
जनम वृथा है तो भी मेरे जान मानव को,
हिन्द में जनम पाके हिन्दी जो न जानी हो।।

आज चार वर्ष बाद उनके जन्म-शताब्दी वर्ष के मनाये जाने की घोषणा सुनकर आश्चर्य होता है। हम अपने पूर्वज साहित्यकारों को भुलाते जा रहे हैं। फिर भी कोटा, भरतपुर, झालावाड़, दिल्ली तथा जयपुर में शताब्दी-समारोहों के आयोजनों का समाचार सुनकर प्रसन्न होना स्वाभाविक है। देर से आए पर ठीक आए। आवश्यकता इस बात की है कि नवरत्न जी की रचनाओं का ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशन हो अन्यथा ये आयोजन हवा में उड़कर रह जायेगे।

इन शब्दों के साथ हिन्दी-दिवस पर प्रकाशित यह अंक सहृदय पाठकों के हाथों में सादर समर्पित है।

—विष्णुदत्त राकेश

वैदिक वन्दना

ॐ यतो यतः समीहसे, ततो नो अभय कुरु
शं नः कुरु प्रजाभ्यो–अभयं नः पशुभ्यः । यजु० ३६/२२

हिन्दी अर्थ—हे परमात्मन् ! आप जिधर से चाहते हो, उधर से हमें निर्भय करो । हमारी संतानों को सुख दो । हमारे पशुओं को निर्भय करो ।

इस मंत्र में निर्भय होने के लिए प्रार्थना की गई है । साहस, मनोबल और शुभ-संकल्प का उदय निर्भय होने के कारण ही हो सकता है । भय के मूल में अनिष्ट की आशंका रहती है और अनिष्ट पाप की भावना का परिणाम है । पाप की भावना से मुक्ति पाये बिना निर्भय नहीं हुआ जा सकता । आस्तिकता से आत्मबल की वृद्धि होती है, पाप की भावना नष्ट होती है तथा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है । प्रजा का अकल्याण और जीवहिंसा पाप के मुख्य रूप हैं । अतः मनुष्य से लेकर पशु तक समान भावना का प्रसार होना चाहिए । 'साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोइ' । प्राणिमात्र भयरहित होकर इस पृथ्वी पर विचरण करे, यही आदर्शसमाज का लक्ष्य होना चाहिए । आइए, हम मिलकर प्रार्थना करें ।

हे परमात्मन् आप जिधर से चाहें, निर्भय हमें करें ।
संततियों को मिले परम सुख, पशु निर्भय भू पर विचरें ।

भाषाई क्रान्ति में महर्षि दयानन्द का योगदान

—डॉ० नरेश मिश्र
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक

स्वामी दयानन्द का जन्म उस समय हुआ जब देश गुलामी की जंजीर में जकड़ा जा चुका था। लम्बे समय की दासता में हम जीने का अधिकार भी खो चुके थे। पैरों में पड़ी हुई दासता की बेड़ी ने हमें पूरी तरह से पंगु बना दिया था। परतंत्रता के उस वातावरण में चारों तरफ अन्धकार ही अन्धकार फैला हुआ था। ऐसी विषम परिस्थिति, निराशा भरे वातावरण में आवश्यकता थी गिरतों को उठाने वाले की, दलितों को उठाकर गले लगाने वाले की तथा भटके राहियों को सन्मार्ग पर लाने वाले की। इस महाविभूति ने आर्य जगत में पदार्पण कर मात्र हमारा खोया हुआ मार्ग ही नहीं दिखाया वरन् हमारी संस्कृति, सभ्यता तथा भाषा को नवजीवन प्रदान किया। वर्तमान समय में भारत की अनगिनत समस्याओं में भाषा–समस्या एक विकराल समस्या है। भाषाई क्रांति में अनेक संस्थाओं तथा व्यक्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ रही हैं। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती का भाषाई क्रांति में योगदान एक विचारणीय विषय है।

भारतवर्ष पर मुसलमानों ने लगभग छः सौ वर्षों तक राज्य किया, जिसके कारण हिन्दी भाषा पर मुसलमानी प्रभाव अत्यन्त गहरा हो गया। इस काल के हिन्दी-साहित्य में अरबी, फारसी और तुर्की भाषा के शब्दों की बहुलता का यही मुख्य कारण है। हिन्दू धर्म की उदारता की भाँति हिन्दी भाषा ने भी खुले दिल से सभी विदेशी-भाषाओं के शब्दों का स्वागत किया। समय परिवर्तन के साथ मुसलमानी शासन का अवसान हुआ, किन्तु इसका लाभ हमें न मिल सका। मुसलमानों के बाद अंग्रेज़ हमारे शासक बन गये। "आये थे व्यापार करन को बन गये ठेकेदार।" वे हमारी भाषा पर सीधा प्रहार करते थे, क्योंकि उनका सिद्धान्त था— "किसी देश को नष्ट करना है तो उसकी भाषा को नष्ट कर दो, देश स्वतः ही नष्ट हो जायेगा।"

भारतवर्ष में अंग्रेज़ी शासन की ओर से अंग्रेज़ी प्रचार-प्रसार के लिए सशक्त प्रयत्न किया जा रहा था, वहीं हिन्दी को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। एक तरफ मुसलमानी प्रभाव से हिन्दी की गतिमयता पर गहरा प्रभाव पड़ा तो दूसरी तरफ यूरोपीय प्रभाव से हिन्दी बोझिल हो गयी। इस समय हिन्दी में उसके ही मूलाधार संस्कृत के आगत शब्दों की लगातार कम होती स्थिति अखरने लगी। संस्कृत-हिन्दी का निकट सम्बन्ध धुंधला होने लगा। संस्कृत के आगत तत्सम शब्दों में भारतीय संस्कृति तथा आदर्श भाव-वहन ही अपूर्व क्षमता होती है। विदेशी भाषा के आगत शब्दों के माध्यम से उक्त भावागम दुष्कर ही नहीं, असम्भव-सा है।

स्वामी दयानन्द के दिल में राष्ट्रीय भावना की अपूर्व लहर झूमती थी। हिन्दी, हिन्दुस्तान तथा हिन्दुस्तानवासियों की उन्नति के लिए स्वामी जी ने क्या नहीं किया। हिन्दी पर अरबी-फारसी के बाद अंग्रेज़ी के बढ़ते प्रभाव को देखकर उन्होंने संस्कृत के साथ हिन्दी के प्रचार-प्रसार का सतत प्रयत्न किया। इसी प्रक्रिया से हिन्दी का भाषाई रूप उन्नतिशील तथा परिमार्जित होता ही गया। तत्कालीन भाषाई क्रांति में महर्षि स्वामी दयानन्द का योगदान विचारणीय

युग और गतिशील समय की सच्ची पहचान रखने वाले स्वामी जी भारतवासियों की भावना को भी अपूर्वरूप से आदर देते थे। जनसामान्य की हिन्दी को अपना कर जैसा आकर्षक, भावात्मक तथा सरल भाषा-शैली का प्रयोग किया, वह इनकी अपनी कला थी। भाषा-शैली के मोहक प्रयोग से इनका भाषाई-प्रेम सुस्पष्ट हो जाता है।

(अ) भाषा—

मानवभावाभिव्यक्ति के साधन को भाषा की संज्ञा दी जाती है। मानव-जीवन के सरल तथा सहज विचारों से लेकर वेद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा जटिल भावों को स्वामी जी ने अत्यन्त अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने आध्यात्मिक विचारों को साहित्यिक तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा में प्रस्तुत करने की परम्परा को नया रूप प्रदान किया। सरल भाषा में अर्थ की गम्भीरता स्वामी जी की अपनी विशेषता है। संस्कार-विधि के पृष्ठ २०७ पर श्लोकार्थ द्रष्टव्य है—

"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्माता धर्म वर्जितो।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविकष्टमेव च ॥"

"जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों उनको सर्वथा शीघ्र छोड़ देवें और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुखदायक कर्म हैं और जो

लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करने वाले कर्म हैं उनसे भी दूर रहें।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ १२६ की पंक्ति इसी प्रकार की भाषा का प्रतिनिधित्व करती है—

"तस्यास्यपुरुषस्य मनसो मननशीलात्साम र्य्याचन्द्रमा जात उत्पन्नोस्ति।"

"उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है।"

गुजरातीभाषी स्वामी जी ने संस्कृत के प्रकाण्ड-पण्डित होते हुए राष्ट्रीय-भावना से प्रेरित होकर आर्यभाषा (हिन्दी) को राष्ट्र-भाषा की कल्पना का आकर्षक मूर्त्तरूप प्रदान किया। हिन्दी भाषा के सरल रूप को अपना कर गुरुकुलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रखा।

१. भावानुकूल भाषा :

स्वामी जी ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अपूर्व विस्तृत भावों को प्रकट करने के लिए उसके अनुसार भाषा का प्रयोग किया है। जीवन के क्रियाकलाप के विशेष दृष्टिकोण को समझाने के लिए हृदय तथा मन को छूने वाली भाषा का कितना सफल प्रयोग करते हैं? उदाहरणार्थ सत्यार्थ प्रकाश में अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ १६१ पर कारणविवेचन संदर्भ की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

"अरे भोले भाइयो! कुछ अपनी बुद्धि को काम में क्यों नहीं लाते? संसार में दो पदार्थ होते हैं, एक कारण—दूसरा कार्य। जो कारण है वह कार्य नहीं और जो कार्य है वह कारण नहीं।"

स्वामी दयानन्द की सभी रचनाओं में भाषा का यह विशिष्ट रूप प्रत्येक अनुच्छेद में देख सकते हैं। स्वामी जी द्वारा भाषा का ऐसा प्रयोग जन-मानस के अन्दर तथा हिन्दी भाषा के उत्थान के लिए किया गया है।

२. शब्द-चयन—

भाषा की लघुतम, स्वतंत्र तथा अर्थवान इकाई को शब्द की संज्ञा दी जाती है। भावाभिव्यक्ति के मूलाधार के कारण शब्द को ब्रह्म कहा गया है। स्वामी जी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति तथा अपनी राष्ट्रीयभावना को जन-जन में आन्दोलित करने के लिए जनसामान्य में प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया। अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा भाषा के साथ भारतीय आदर्शों की रक्षा के लिए अपनी रचना में तत्सम शब्दों का बहुल प्रयोग किया। तद्भव के साथ तत्सम शब्दों का प्रयोग मणि-कांचन-योग सिद्ध हुआ है। ईश्वर, उपासना, उत्पत्ति, काल,

जड़, जिह्वा, पुत्र, प्रलय, शब्द, शीतल तथा हस्त आदि तत्सम शब्दों के साथ किसान (कृषक), कुम्हार (कुम्भकार), घी (घृत), पत्तल (पत्र), पिया (पान), बनिया (वाणिक) तथा सोना (स्वर्ण) आदि तद्भव शब्दों का आकर्षक प्रयोग उनकी भाषा में आद्योपान्त देखा जा सकता है। तत्सम शब्दावली के प्रयोग के विषय में श्री भगवद्दत्त ने अपना विचार सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका के पृष्ठ १० पर प्रस्तुत किया है—

"ऋषि का जीवन प्राचीन आर्ष विद्या के संस्कारों से ओत-प्रोत था। अत: उनकी भाषा में संस्कृतशब्दरूपों की अपूर्व छाया मिलती है।"

स्वामी जी की भाषा में संस्कृत के कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। संस्कृत में "अथवा" के स्थान पर "वा" शब्द का प्रयोग होता है। उर्दू में भी इसी के निकटस्थ रूपों "व" और "या" शब्द के प्रयोग होते थे किन्तु स्वामी जी ने "वा" का ही प्रयोग किया है; यथा—

सत्यार्थ प्रकाश के एकादशसमुल्लास के पृष्ठ ३०२ पर— "मध्यम वह है जो कीर्ति वा स्वार्थ के लिए दान करें।"

स्वामी जी द्वारा शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर विशेष बल दिया गया है। जैसे—सामान्य भाषा में यत्र-तत्र महत्त्व का महत्व कर दिया जाता है, किन्तु स्वामी जी शब्द के मूल तथा शुद्ध रूप को ही अपनाते हैं।

तत्सम तथा तद्भव शब्दों के बहुल प्रयोग के आधार पर यह नहीं कह सकते कि स्वामी जी के मन में किसी भाषा या उसके शब्दों के प्रति उपेक्षा या हेय भाव था। जो शब्द बहुप्रचलन में थे, उनकी भाषा में ऐसे शब्दों का बहुल प्रयोग मिलता है। उर्दू भाषा के प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द निम्नलिखित हैं—

१—आदमी–उदा. "एक दूसरा **आदमी** उसके पीछे......................बन ठन गए।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३२६।

२—केवल–उदा. "जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष करा के **केवल** उनसे...................है।" ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पृ० ३५३।

३—जगह–उदा. "प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी-अपनी **जगह** होते हैं।" ऋग्वेद०, पृ० ३५३।

४—जिमीदार–उदा. "गदडे का भूमिया (**जिमिदार**) था।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३२६।

५—बराबर–उदा. "वे **बराबर** वेदों के सब प्रयोगों में लगता है।" ऋग्वेद० पृ० ३५२।

६—मालूम–उदा. "मालूम होता है कि उनको·················होगा।" ऋग्वेद०, पृ० १६।

७—मुसलमान–उदा. "वैसे ही मुसलमान सातवें असमान·················मानते हैं।" सत्यार्थ०, पृ० २१४।

८—साथी–उदा. "न युद्ध करते हुओं को·················न शत्रु के साथी।" सत्यार्थ०, पृ० १२८।

९—हजार–उदा. "इन चारों युगों के तितालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं।" ऋग्वेद०, पृ० २३।

स्वामी दयानन्द की दृष्टि में अंग्रेज़ी तथा अंग्रेज़ी की दासता का भाव अत्यन्त खटकता रहा, अत: अंग्रेज़ी के शब्दों के प्रयोग से यथासम्भव बचते रहे हैं। कुछ एक शब्द विवशतावश आ गए हैं। यह विवशता थी, जनसामान्य में उनका बहुप्रचलन। स्वामी जी की भाषा में प्रयुक्त कुछ-एक शब्द द्रष्टव्य हैं—

अंग्रेज़ी-जर्मनी–उदा. "जो-जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेज़ी ज़र्मनी·········बने हैं।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ३२२।

लालटेन–उदा. "लालटेन से कोठरी के अन्दर उजाला किया।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३२६।

स्वामी जी ने भावाभिव्यक्ति के लिए अनुकरणात्मक तथा प्रतिध्वन्यात्मक, युग्म आदि शब्दों के भी यत्र-तत्र प्रयोग किये हैं; जैसे—

१—जटा-जूट—उदा. "उस लिङ्ग में से एक जटा-जूट मूर्ति निकल आई।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २९०।

२—झूठ-मूठ—उदा. "हम अधर्मी नहीं हैं, जो झूठ-मूठ लें।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३०९।

३—टट्टू— उदा. "आप पराधीन भटियारे के टट्टू।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २७५।

४—भोला-भाला—उदा. "यह देश मूर्ख और भोला-भाला है"—सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३२६।

५—हल्ला-गुल्ला–उदा. "पुन: बड़ा हल्ला-गुल्ला हुआ।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २५।

६—अण्ड-बण्ड—उदा. "ऐसी अण्ड-बण्ड कथा गाई।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४४९।

स्वामी जी ने नये शब्दों के भी प्रयोग किये हैं। उक्त शब्दों के भाव-स्पष्टता के लिए उनके साथ पर्याय रूप भी देते हैं, यथा—

भूमिया—उदा. "गदडे का भूमिया (जिमिदार) था।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३२६।

३. **प्रतीक योजना—**

साहित्य में भावाभिव्यक्ति के लिए प्रतीक योजना का आधार लिया जाता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रतीक योजना के विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा—

"जब लेखक अपनी भावना और भाषा को समानान्तर नहीं पाता है तो वह ऐसी कलात्मक युक्ति की खोज करता है जो उसकी अनुभूति को सफलता-पूर्वक व्यक्त कर चिरस्थायी बना सके। प्रतीकों की भाषा एक ऐसी ही युक्ति है जिसे कुशल लेखक अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को व्यापक एवं पूर्ण बनाने के लिए व्यक्त करता है।"

स्वामी दयानन्द के साहित्य में सर्वत्र प्रतीकों का कोई न कोई रूप मिलता है। उन प्रतीकों के माध्यम से सूक्ष्म भावों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किये हैं; यथा—

१. **आर्य** [सज्जनता का प्रतीक] उदा. "इसलिए मनुष्यों के योग्य है कि सत्य, धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर-बाहर की पवित्रता में सदा रमण करें।" संस्कारविधि, पृ० २०६-२०७।

२. **अग्नि** [स्वप्रकाशस्वरूप] उदा. "हे [अग्ने] स्वप्रकाशस्वरूप············पाप-कर्म को दूर रखिए।" संस्कारविधि, पृ० २४४।

३. **आकाश** [अति विस्तृत या असीम] उदा. "सबसे श्रेष्ठ आकाशवत्, व्यापक, सबमें रहने वाला परमेश्वर है।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ०, ३१८।

४. दीमक [सतत निर्माणकार्यरत] उदा. "जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को भी बना लेती है············।" संस्कारविधि, पृ० २०७।

इस प्रकार स्वामी जी के साहित्य में विभिन्न प्रकार के प्रतीकों का आकर्षक प्रयोग किया गया है।

४. मुहावरे-कहावतें—

भाषा-अलंकरणों में मुहावरे तथा कहावतों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इनके प्रयोग से सूक्ष्म-भावों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जाता है तथा भावाभिव्यक्ति में सरलता होती है। इनके प्रयोग से, जहाँ भाषा का आन्तरिक पक्ष निखरता है, वहीं बाह्यरूप भी सँवरता है। स्वामी जी ने यत्र-तत्र सहज-रूप में मुहावरों तथा कहावतों के प्रयोग किये हैं—

१. कुम्हार का गधा—	उदा० "कुम्हार के गधे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेक विध दुःख पाते हैं।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २७५।
२. भठियारे का टट्टू—	उदा. "आप पराधीन भठियारे के टट्टू ...... दुःख पाते हैं।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २७५।
३. मुर्दे जिलाना—	उदा. "ईसा को मुर्दे जिलाने आदि का काम-कर्त्ता मान लेवें ?" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४४७।
४. संतों की गति—	उदा. "संतों की गति अपार है।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३४४।
१. सेवा से मेवा मिलना—	उदा. "तन, मन, धन से सेवा करो, क्योंकि सेवा से मेवा मिलता है।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३४४।
६. हिये की आँख फूटना—	उदा. "किसकी हिये की आँख फूट गई है।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४४७।

५. सहज भाषा

सहजता मानव की अनूठी विशेषता है, जिसके कारण इसे मानव की परम निधि कह सकते हैं। महर्षि दयानन्द स्वभाव से अत्यन्त गम्भीर व्यक्ति थे। अपने विचार दूसरे के समक्ष रखने के लिए स्वामी जी सहज भाषा का प्रयोग करते थे। भाषा की सहजता के कारण प्रत्येक व्यक्ति उनके विचार सुनने के लिए उत्सुक रहता था। जो भी व्यक्ति उनका विचार सुनता वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था; उदाहरणार्थ—

"कुछ भी नहीं। ये अन्धे लोग भेड़ के तुल्य एक के पीछे दूसरे चलते हैं, कूप-खाड़े में गिरते हैं, हट नहीं सकते।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २७८।

अन्य उदाहरण—

"जो दान लेना है वह नीचकर्म है, किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है।" संस्कारविधि, पृ. २००

(आ) शैली—

शैली के लिए 'रीति' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने "रीति-विज्ञान" पुस्तक में अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि शैली-विज्ञान के स्थान पर रीति-विज्ञान शब्द प्रयुक्त करना चाहिए, क्योंकि यह अधिक उपयोगी है। वि० कृष्णस्वामी अभ्यंगार ने विशेष दृष्टिकोण से इसे 'साहित्य शैली-विज्ञान' नाम दिया है—

"साहित्य की भाषा का विवेचन करने के कारण इसे 'साहित्यिक शैली-विज्ञान' कह सकते हैं।" शैली और शैली-विज्ञान, पृ. ८८

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने शैली की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"शैली का लेखक की आत्मिक या वैयक्तिक विशिष्टता, विचारधारा एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विचार या विषयवस्तु का माध्यम ही शैली है।" साहित्य की शैली (साहित्य विज्ञान-ग्रन्थमाला, खण्ड ३) पृ. २१५।

डॉ० कृष्णकुमार शर्मा शैली की परिभाषा करते हुए लिखते हैं— "शैली सन्दर्भों और भाषातात्त्विक रूपों को जोड़ने वाली कड़ी है।" शैली और शैली-विज्ञान, पृ० १२५

स्वामी दयानन्द ने भाव को प्रवाहमय रूप देने के लिए सहज भाषा के साथ माधुर्य, प्रसाद तथा ओज गुणसम्पन्नता को जिस प्रकार से अपनाया है वह स्वामी जी की अपनी विशिष्टता है। इन गुणों में भी शैली-विज्ञान के तत्त्व समाहित होते हैं।

दयानन्द सरस्वतीरचित साहित्य का विवेचन करने से उसकी निम्नलिखित विशिष्टताएँ सामने आ जाती हैं।

१. चयन—

जब कोई साहित्यकार एकाधिक ध्वनि-शब्द आदि में से किसी एक का बहुल प्रयोग करता है, तो उसे चयन की संज्ञा दी जाती है। स्वामी दयानन्द व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखकर ध्वनि-शब्द आदि का चयन करते रहे हैं। भाषाई क्रांति की प्रबल भावना के कारण उन्होंने तत्सम तथा तद्भव शब्दों को अधिक

अपनाया है। यथा 'पश्चात्' तथा 'बाद' में से 'पश्चात्', 'मनुष्य' तथा 'आदमी' में से 'मनुष्य', 'वा' और 'या' में से 'वा', 'क्षमा' और 'माफ' में से 'क्षमा' शब्द का चयन किया है। उनका सारा साहित्य ऐसे प्रयोगों से भरा है। उन्होंने चयनपद्धति में सरलता तथा प्रचलनभाव को भी विशेष महत्त्व दिया है, यही कारण है कि उनकी सरल तथा व्यावहारिक शैली में गूढ़ तथ्य भी सहजरूप से स्पष्ट हो गये हैं। शब्दों के साथ पदों का चयन तथा भावात्मक जोड़ के लिए उनका समायोजन भी अत्यन्त अनूठा है। एक वाक्य के पश्चात् दूसरे वाक्य तथा एक अनुच्छेद के पश्चात् दूसरे अनुच्छेद के चयन भी अपने आदर्श को बनाये हुए दिखाई पड़ते हैं। इससे भाव के प्रवाह में प्रबलता दिखाई पड़ती है।

२. विचलन—

भाषा के मानकरूप से भिन्न प्रयोग को विचलन की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक साहित्यकार के साहित्य में समय, परिस्थिति, क्षेत्रीयता, विशेष आकर्षण, विशिष्टता, अज्ञानता में से किसी न किसी के प्रभाव से विचलन का रूप अवश्य मिल जाता है। स्वामी दयानन्द का भाषाई क्रांति में अपूर्व योगदान रहा है। उनके समय में हिन्दी-अंग्रेज़ी का ही संघर्ष नहीं था, वरन् हिन्दी हिन्दुस्तानी का भी संघर्ष चल रहा था। स्वामी दयानन्द भाषाशुद्धता पर पूरा ध्यान दे रहे थे, क्योंकि उनका लक्ष्य हिन्दी को सम्माननीय स्थान दिलाना था, जिसके कारण उनके साहित्य में यत्र-तत्र विचलन के रूप देख सकते हैं।

भाषा के भावान्दोलन में स्वामी जी तेजी से आगे बढ़े। गुजरातीभाषी स्वामी जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इस कारण गुजराती अथवा संस्कृत के नियम हिन्दी में आ गये हैं; यथा—संस्कृत में 'सन्तान' शब्द पुल्लिग माना जाता है, किन्तु हिन्दी में स्त्रीलिंग। स्वामी जी ने वही रूप प्रयोग किया, यथा—

"वह सन्तान बड़ा भाग्यशाली।" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २५।
"सन्तान जितने भी होंगे वे भी सब उत्तम होंगे।"

सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २६

'आयु' शब्द भी उनके द्वारा संस्कृत के अनुसार पुल्लिग रूप में ही प्रयुक्त किया गया है, जबकि हिन्दी में स्त्रीलिंग रूप है; यथा—

"जो ऐसा नहीं करते **उनके आयु** आदि चार नहीं बढ़ते।"

सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४४

'मेवा' शब्द हिन्दी में पुल्लिग के रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु सत्यार्थ प्रकाश में स्त्रीलिंग के रूप में प्रयुक्त है; यथा—

"सेवा से मेवा मिलती है।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३४४।

भावप्रबलता लाने के संदर्भ में भी व्याकरणिक विचलन आ गया है। जन-सामान्य के हृदय में बात बैठ जाये, इस उद्देश्य से हुआ यह विचलन—

"सभों ने उससे कहा वह क्रूश पर चढ़ावा जावे।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४४

स्वामी जी ने यत्र-तत्र विशिष्ट सन्दर्भ में भावाभिव्यक्ति हेतु कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो विचलन की श्रेणी में आ जाते हैं। उन्होंने चरित्र को विशेष महत्त्व दिया, जिसके कारण ही 'चरित्रहीन' के स्थान पर 'चरित्ररहित' शब्द प्रयोग किया है। माना किसी भी व्यक्ति का चरित्र अच्छे या बुरे से अलग हो नहीं सकता, किन्तु उन्होंने दुश्चरित्र भाव को विशेष बल देने के लिए ऐसा किया होगा। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"श्रावक लोग जैनमत के साधुओं को चरित्ररहित, भ्रष्टाचारी देखें तो भी उनकी सेवा करनी चाहिए।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३९२

इस प्रकार विचलन के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने विशेष समय को विशेष परिस्थिति, में विशेष भाव-अभिव्यक्ति के लिए यह रूप अपनाया है, जिसके कारण ये विचलन हुआ है।

३. समानान्तरता—

जब किसी साहित्यकार के द्वारा किसी ध्वनि, शब्द, पद या वाक्य का एकाधिक प्रयोग किया जाता है तो उसे समानान्तरता की संज्ञा दी जाती है। समानान्तरता का सहजरूप भाव को गहराई प्रदान करते हुए अभिव्यक्ति में भी परम सहायक सिद्ध होता है। महर्षि दयानन्द के साहित्य की यह एक अनूठो विशेषता है, उनके साहित्य में समानान्तरता के कई रूप मिलते हैं।

क. ध्वनि-समानान्तरता—

"जो तुम बैठे-बैठे व्यर्थ माल मारते हो तो विद्याभ्यास कर गृहस्थों के लड़के-लड़कियों को पढाओ।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३३९।

ख. शब्द-समानान्तरता—

स्वामी दयानन्द के साहित्य में शब्द-समानान्तरता का बहुल प्रयोग मिलता है। इसे इनके साहित्य की विशिष्ट साहित्यिक धरोहर कह सकते हैं।

अलग-अलग-	ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका,	पृ० ६०
उस-उस	वही	पृ० ६०
कौन-कौन	वही	पृ० ३४६
जिस-जिस	वही	पृ० १०८
जो-जो	वही	पृ० ६०
दूर-दूर	वही	पृ० १५३
बड़ी-बड़ी	वही	पृ० २८४
सिमट-सिमट	वही	पृ० २८४
कहीं-कहीं	सत्यार्थ प्रकाश	पृ० ३१४
गुप्त-गुप्त	वही	पृ० ६७
ठीक-ठीक	वही	पृ० ४४६
दश-दश	वही	पृ० ६७
सच-सच	वही	पृ० ४४७
पीछे-पीछे	संस्कार विधि	पृ० २०५

ग. पद-समानान्तरता—

रोचकता बनाते हुए प्रवाहमयता लाने हेतु पद-समानान्तरता लाने का प्रयत्न किया जाता है। दयानन्द सरस्वती को इस दृष्टिकोण से भी अच्छी सफलता मिली है; यथा—

"धर्माचरण करने से.........हो जाते हैं.......यथावत् प्राप्त होते हैं। ....अधिकारों को प्राप्त होते हैं।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ३१३।

घ. वाक्य-समानान्तरता—

पद-समानान्तरता की भाँति ही वाक्य-समानान्तरता की प्रभावोत्पाद विशेषता है। स्वामी जी इस प्रकार की शैली के प्रयोग में भी सफल हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"सब तीर्थंकरों को नमस्कार। जैनमत के सब सिद्धों को नमस्कार। जैनमत के सब आचार्यों को नमस्कार। जैनमत के सब उपाध्यायों को नमस्कार।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३६२।

४. युग्म-शब्द—

सहज तथा स्वाभाविक रूप में भावाभिव्यक्ति के लिए विभिन्न वर्गों के शब्द-युग्मों का प्रयोग किया जाता है। दयानन्द के साहित्य में ऐसे शब्दों का बहुल प्रयोग सहज भावाभिव्यक्ति में वरदानस्वरूप है। उनके साहित्य में

प्रयुक्त कुछ प्रमुख युग्म-शब्द निम्नलिखित हैं—

इधर–उधर	सत्यार्थ प्रकाश	पृ० ४४९
खाना–पीना	वही	पृ० २३६
चुप–चाप	वही	पृ० ३४४
झूठ–मूठ	वही	पृ० ४४४
दूध–घी	वही	पृ० २३३
नौकर–चाकर	वही	पृ० ५२५
वाद–विवाद	वही	पृ० २३७
सत्य–असत्य	वही	पृ० २३६
सोना–चाँदी	वही	पृ० ३१५
स्त्री–पुरुष	वही	पृ० ९६
कला–कौशल	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	पृ० १५३
मल–मूत्र	वही	पृ० १८२
सूर्य–चन्द्र	संस्कार विधि	पृ० १७

५. शब्द-संघटना—

शैली के सन्दर्भ में सामासिकरूप का विवेचन भी आवश्यक है। ऋषि दयानन्द के साहित्य में दो पदों के सामासिकरूप पर्याप्त संख्या में मिलते हैं—

अपना–अपना	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	पृ० १४२
जिस–जिस	वही	पृ० २४५
जो–जो	वही	पृ० २०४
वहाँ–वहाँ	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	पृ० ३२२
उन–उन	संस्कार विधि	पृ० १२४
एक–एक	वही	पृ० १९६
पृथक–पृथक	वही	पृ० १९०
बड़े–बड़े	वही	पृ० १७२
एक–एक	सत्यार्थ प्रकाश	पृ० १३२
खाने–पीने	वहो	पृ० ३५२
तनिक–सी	वही	पृ० ५०७
पाप–पुण्य	वही	पृ० ३५२
बड़े–बड़े	वही	पृ० १३२
बाहर–भीतर	वही	पृ० २५९
भिन्न–भिन्न	वही	पृ० १३२
माता–पिता	वही	पृ० २५२

राम-राम	सत्यार्थ प्रकाश	पृ० ३१८
लड़ते-भिड़ते	वही	पृ० ३७०

इस प्रकार स्वामी दयानन्द की भाषा-शैली के अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने समय, परिस्थिति, जनमानस की भावना तथा राष्ट्रीय विचारधारा को ध्यान में रखकर जिस सहज, स्वाभाविक भाषा के रूप को अपनाया है, वह राष्ट्रभाषा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। महर्षि दयानन्द की सौम्यता तथा जीवन की शैली उनके साहित्य में चाँदनी-सी शीतलता तथा भगवान भास्कर के तेजवान प्रकाश के अनुपम संगम के साथ उतरी है। विषम वातावरण में भी भावनात्मक संघर्ष करते हुए आर्य समाज की स्थापना कर समाज-सुधार जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसी प्रकार भाषाई क्रांन्ति में स्वामी जी के योगदान की जितनी भी प्रशंसा की जाये, वह कम होगी।

प्राचीन भारत की चौंसठ कलाएँ

राघवेन्द्र मनोहर
प्राध्यापक, इतिहास विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दौसा

प्राचीन भारत में शिक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक था। पाठ्यक्रम ऐसा था कि उसमें प्रायः सभी विषयों का समावेश हो जाता था। शिक्षा का उद्देश्य यह माना गया कि उससे ज्ञान की वृद्धि हो, सदाचार में प्रवृत्ति हो और जीविकोपार्जन में सहायता मिले। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को ध्यान में रखकर ही शिक्षा का पाठ्यक्रम निश्चित किया गया था। इस प्रकार उस समय की शिक्षा का आदर्श उच्च और व्यावहारिक था।

शिक्षा में कलाओं की शिक्षा का अपना विशिष्ट स्थान था। कलाओं के सम्बन्ध में रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों में विपुल सामग्री भरी पड़ी है। सर्वप्रथम वात्स्यायन के कामसूत्र में चौंसठ कलाओं का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

गायन, वाद्य, नृत्य, चित्रकला, छपाई, मांडना, पुष्पसज्जा, गन्धयुक्ति, फर्श सजाना, शय्या-सज्जा, तैरना, सामुद्रिक, विचित्र-वेशभूषा, द्वार-सज्जा, अभिनय, शरीर-प्रसाधन, शिरोवेष्टन, आभूषण, जादुई खेल, सौन्दर्य-प्रसाधन, शृंगार, हाथ की सफाई, पाकशास्त्र, सिलाई, बुनाई, बढ़ईगिरी, वास्तुकला, खिलौने बनाना, रत्नकला, धातुकर्म, जड़ाई, बागवानी, जानवर लड़ाना, मूकाभिनय, अनुवाद, समूहगान, मालिश, पक्षी पालना, केशसज्जा, गुप्त-भाषण, गुप्त-लेखन, कहावतें, कशीदाकारी, मशीन चलाना, कठिन बात याद करना, वाक-चातुर्य, पद्यनिर्माण, पर्यायकला, छन्दोज्ञान, कपट, सुई का काम, चौपड़, पान चबाना, पासे के खेल, बाल-मनोविनोद क्रीड़ायें तथा व्यायाम।

कामसूत्र के टीकाकार जयमंगल ने किंचित संशोधन के साथ चौंसठ कलाओं का जिक्र किया है—

(१) गीत (२) वाद्य (३) नृत्य (४) आलेख्य (५) विशेषकच्छेद्य (तिलक

लगाने के लिए कागज काटकर आकृति बनाना) (६) तण्डुल-कुसुम बलिविकार (देवपूजन के लिए रंगे हुए चावल, जौ तथा फूलों को विविध प्रकार से सजाना) (७) पुष्पास्तरण (८) दशनवसनाङ्गराग (दांत, वस्त्र तथा शरीर के अन्य भागों को रंगना) (९) मणिभूमिकाकर्म (घर के फर्श की सफाई) (१०) शयनरचन (शय्या लगाना) (११) जलतरंग (१२) उदकाघात (हाथों या पिचकारी से जल की चोट मारना) (१३) चित्राश्व योगा: (शत्रु को निर्बल करने वाली औषधि तैयार करना) (१४) माल्यग्रथन विकल्प (माला गूंथना) (१५) शेखरकापीड़-योजन (स्त्रियों की चोटी पर अलंकारों के रूप में पुष्प गूंथना) (१६) नेपथ्य-प्रयोग (शरीर को वस्त्राभूषणों से संवारना) (१७) कर्णपत्रभङ्ग (हाथी-दाँत, सीप आदि के आभूषण बनाना) (१८) गन्धयुक्ति (सुगन्धित धूप बनाना) (१९) भूषणयोजन (२०) इन्द्रजाल (जादू के खेल) (२१) कौचुमारयोग (वीर्य बढ़ाने वाली औषधि बनाना) (२२) हस्तलाघव (हाथ के काम में तत्परता) (२३) पाकविद्या (२४) विभिन्न प्रकार के आसव बनाना (२५) सूचीवान कर्म (सुई का काम) (२६) सूत्रक्रीड़ा (कठपुतली आदि खेल) (२७) वीणाडमरुकवाद्य (२८) प्रहेलिका (पहेलियाँ बूझना) (२९) प्रतिमाला (कविता पढ़ने की रोचक विधि) (३०) दुर्वाचकयोग (कठिन उच्चारण वाले श्लोक) (३१) पुस्तकवाचन (३२) नाटकाख्यायिका-दर्शन (३३) काव्य (३४) पट्टिकावेत्रवानविकल्प (पीढ़ा, आसन आदि वस्तुयें बनाना) (३५) तक्षकर्म (३६) तक्षण (३७) वास्तुविद्या (३८) रत्नपरीक्षा (३९) धातुवाद (४०) मणिरागाकर ज्ञान (मणि आदि रंगना) (४१) वृक्षायुर्वेद योग (४२) मुर्गे, तीतर, बटेर लड़ाना (४३) शुक सारिका प्रलापन (४४) केशमर्दन कौशल (४५) अक्षरमुष्टि (गोपनीय संवाद) (४६) म्लेच्छित विकल्प (गूढ़ सांकेतिक अर्थ) (४७) देशभाषा विज्ञान (४८) पुष्पशकटिका (४९) शकुन जानना (५०) यन्त्र मातृका (कलपुर्जे बनाना) (५०) धारण मातृका (सुनी हुई बातों को याद रखना) (५२) संपाठ्य (५३) मानसी काव्य क्रिया (५४) अभिधानकोष (५५) छन्दोज्ञान (५६) क्रियाकल्प (५७) छलितक योग (रूप और बोली छिपाना) (५८) वस्त्रगोपन (५९) द्यूतविशेष (६०) पासों का खेल (६१) बाल क्रीडनक (६२) वैनयिकी ज्ञान (विनय व शिष्टाचार) (६३) शस्त्र विद्या (६४) व्यायाम ।

इन कलाओं का उल्लेख थोड़े बहुत संशोधन के साथ अन्यत्र भी मिलता है। शुक्राचार्य के 'नीतिसार' में चौथे अध्याय के अन्तर्गत इन कलाओं का विवरण देते हुए कहा गया है—"कलायें अनन्त हैं, उन सबके नाम भी नहीं गिनाये जा सकते, लेकिन उनमें चौंसठ कलायें मुख्य हैं।" यहाँ महत्व संख्या का नहीं बल्कि कला के विस्तृत क्षेत्र और उसके सृजनात्मक स्वरूप का है। इनमें सभी कुछ तो समाविष्ट था। यथा—

हावभाव के साथ गति अर्थात नृत्य, अनेक प्रकार के वाद्यों का निर्माण

और बजाने का ज्ञान, स्त्रियों और पुरुषों द्वारा सुचारू रूप से वस्त्र पहनना, समय और स्थिति के अनुसार वेश, शय्या व बिछौना सुन्दर रीति से बिछाना, पुष्पों को अनेक प्रकार से गूंथना, द्यूत आदि क्रीड़ाओं द्वारा मनोरंजन, विविध आसनों का ज्ञान, विविध प्रकार के आसव, मद्य निकालना, शल्यक्रिया द्वारा उपचार, अनेक प्रकार से अन्नों को पकाना, वृक्ष, लता आदि उगाना, धातुओं की भस्म तैयार करना, ईख से गुड़, खाँड, चीनी आदि बनाना, विभिन्न धातुओं के सम्मिश्रण का ज्ञान, लवण बनाने का ज्ञान, शस्त्र-संचालन में निपुणता, मल्लयुद्ध में प्रवीण होना, सारथ्य अर्थात रथ हाँकने का ज्ञान, विविध प्रकार से चित्रों का आलेखन, व्यूहरचना, तालाब-कूप-बावड़ी आदि बनाना, विभिन्न रंगों के वस्त्र रंगना, नौका. रथ आदि का निर्माण, रस्सी बनाने की जानकारी, रत्नों की पहचान, सुवर्ण, रजत आदि की शुद्धता की परख, चमड़े को मुलायम कर उपयोगी सामान तैयार करना, गाय-भैंस दुहने से लेकर दही जमाना, मथना, मक्खन निकालना तथा घी बनाने तक की सभी क्रियाओं का ज्ञान, कपड़ा सीना, तैरना, तिल-सरसों आदि से तेल निकालना, घर के बर्तन उचित रीति से मांजना, वस्त्रों की उचित धुलाई, पेड़ पर चढ़ना जानना, दूसरे की इच्छा के अनुसार सेवा करने का ज्ञान, खेती से सम्बन्धित कार्यों का ज्ञान, शिशुओं का संरक्षण व पोषण, बच्चों के खिलौने बनाने का ज्ञान, तत्परता से कार्य करने का ज्ञान, इत्यादि।

इस प्रकार चौंसठ कलाओं का क्षेत्र इतना व्यापक था कि जीवन का शायद ही कोई पक्ष उससे अछूता हो। स्वाभिमान और आत्मनिर्भरता इनके प्रमुख आधार थे।

दयानन्द की दार्शनिक उद्भावना

—मनुदेव बन्धु, एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी, वेद), व्याकरणाचार्य
प्राध्यापक, वेद–विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जहाँ वेदों पर अपनी लेखनी उठाकर समाज को एक नई देन दी है, वहीं दूसरी ओर अपनी दार्शनिक मान्यताओं में नवीन उद्भावनाओं को जन्म देकर अपने आपको दार्शनिकों की पंक्ति में प्रथम स्थान पर पहुँचाया है। यहाँ उनकी नवीन उद्भावनाएँ प्रस्तुत हैं।

प्रत्यक्ष का लक्षण—

न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण इस प्रकार किया है—"इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"। अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ऐसा ज्ञान जो व्यपदेश्य न हो, व्यभिचारी न हो और निश्चयात्मक हो; प्रत्यक्ष कहलाता है।

परन्तु हम देखते हैं कि इन्द्रियों का अपने अर्थों से सन्निकर्ष रहने पर भी कभी ज्ञान होता है, कभी नहीं। कभी-कभी आँखें खुली होने पर भी निकटस्थ पदार्थ को देख नहीं पातीं, कान सुन नहीं पाते, त्वचा में सम्वेदन नहीं होता। वस्तुतः इन्द्रियविशेष का विषय होने से उसके द्वारा ग्राह्य होने और अर्थ के साथ उसका सन्निकर्ष होने पर भी उसका ज्ञान तभी होता है जब इन्द्रिय को मन का सहयोग प्राप्त होता है। जब आत्मा को किसी बाह्य विषय को जानने की इच्छा होती है तो वह अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर मन के भीतर आलोच्य विषय की ओर प्रवहमान विचारतरंग को उत्पन्न करता है। यह विचारतरंग ज्ञान-तन्तुओं में से होती हुई उस इन्द्रिय से जा टकराती है जिसका वह विषय होता है। इस प्रकार बाह्य विषयों का इन्द्रियों से सम्बन्ध होने पर आत्मा को अभिलषित ज्ञान होता है। चेतनआत्मा ज्ञाता है। परन्तु शरीर के भीतर अवस्थित होने से उसकी गति बाहर नहीं। इसलिए उसे बाह्यजगत् से सम्बन्ध रखने के लिए सम्पर्क-अधिकारी की आवश्यकता पड़ती है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिए किसी ऐसे सहायक तत्त्व की अपेक्षा है जिसमें दोनों के गुण हों। अर्थात् आत्मा की भान्ति अभौतिक और शरीर की

भान्ति भौतिक हो। तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ अथवा सम्पर्क-अधिकारी का काम कर सकता है। स्थूल भूतों का विकार न होने से मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, इन चारों का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि वह देखा नहीं जा सकता। इसलिए वह सर्वथा अभौतिक है। परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से बना है, इसलिए वह भौतिक (प्रकृति का विकार) है। इस कारण वह आत्मा और शरीर के बीच माध्यम का काम कर सकता है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क-अधिकारी को 'मन' कहते हैं। परन्तु मन भी शरीर से बाहर नहीं जा सकता। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्य सम्पादन के लिए उसे भी ऐसे सहायकों की अपेक्षा है जो बहिर्मुखी होने के कारण बाह्य जगत् से सीधा सम्पर्क करने में समर्थ हों। इन्हीं को 'इन्द्रिय' कहते हैं। आत्मा से आदेश पाकर मन बाह्य कारणों, इन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करता है। इस प्रकार आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का बाह्यविषय से सन्निकर्ष होने पर ही आत्मा को बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष होता है। बाह्य जगत् के ज्ञान की इस प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के तीसरे समुल्लास में प्रत्यक्ष लक्षण इस प्रकार किया है— "इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।"

स्वामी दयानन्द की इस उद्भावना के आधार पर हमारी दृष्टि में प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण इस प्रकार है—"आत्मेन्द्रियमनोसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।"

ईश्वर का लौकिक प्रत्यक्ष—

क्या ईश्वर का प्रत्यक्ष सम्भव है? अनुमानादि प्रमाणों तथा तर्क के आधार पर तो ईश्वर की सिद्धि सदा से होती आई है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने योगजप्रत्यक्ष द्वारा भी ईश्वर का प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। इस विषय में महर्षि दयानन्द का कथन है— "जब जीवात्मा शुद्ध हो के परमात्मा का विचार करने में तत्पर होता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं!" परमात्मा के योगजप्रत्यक्ष का उल्लेख करते हुए महर्षि ने स्पष्ट कहा है— "शुद्धान्तःकरण विद्या और योगाभ्यास से पवित्र आत्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे बिना पढ़े विद्या के प्रयोजनों की प्राप्ति नहीं होती वैसे ही योगाभ्यास और विज्ञान के बिना परमात्मा भी नहीं दीख पड़ता।"

प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। परन्तु परमेश्वर तो इन्द्रियों का विषय नहीं है। पुनरपि महर्षि दयानन्द ने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा एक नवीन उद्भावना करके ईश्वर का लौकिक प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। यह उनकी नवीन तथा विशिष्ट उद्भावना है।

गुणों का प्रत्यक्ष—

महर्षि दयानन्द की एक विलक्षण तथा सर्वथा मौलिक उद्भावना यह है कि इन्द्रियों तथा मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। न्यायदर्शन में कथित प्रत्यक्ष के लक्षण का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"अब विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचनाविशेष आदि कर्म और ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।"

इन्द्रियों का विषय से सम्पर्क होने पर उसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न गुणों की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय का ग्रहण करती है। जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। ये अनुभूतियाँ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि की सूचनामात्र हैं। मन में एकत्र इन सूचनाओं के आधार पर उनके संयोग–वियोग से बुद्धि उन अनुभूतियों के समुच्चय को एक नाम दे डालती है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं। एक विशेष प्रकार के रूप, रंग, गन्ध, स्वादादि से युक्त पदार्थ को सन्तरा कहते हैं। कुछ भिन्न रूप, गन्ध, स्वाद वाले को मौसमी कहते हैं। हम कहते हैं—'मैंने सेब देखा'। एक अंग्रेज कहता है कि उसने 'एपल' देखा। वास्तव में न किसी ने सेव देखा, न एपल। उस पदार्थ-विशेष के मात्रगुणों का प्रत्यक्ष किया। इस पृष्ठभूमि में महर्षि के कथनानुसार ईश्वर का प्रत्यक्ष होने की वात सहज ही समझ में आ जाती है।

गुण अनिवार्यतः गुणी में रहते हैं। गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष होना अनुभव करते हैं। वास्तव में गुण निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा जाने जाते हैं और उसके पश्चात् सविकल्प प्रत्यक्ष द्वारा गुणी का बोध होता है। इस प्रकार लिङ्गों के द्वारा लिङ्गी परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है। यह बाह्येन्द्रियों के माध्यम से आत्मायुक्त आन्तरेन्द्रिय से ईश्वर का प्रत्यक्ष है।

ईश्वर के प्रत्यक्ष में एक अन्य तर्क दयानन्द प्रस्तुत करते हैं। जैनमत की आलोचना के सन्दर्भ में स्वामी जी लिखते हैं—"जो पापाचरणेच्छा के समय में भय, शंका और लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है। इससे भी परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है।"

इस प्रकार की अनुभूति में परमात्मा का ही प्रत्यक्ष होता है। इस मान्यता का विशदीकरण स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास में इस प्रकार किया है—

"जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता या चोरी आदि बुरी या परोपकार आदि अच्छी बात करने का जिस क्षण में प्रारम्भ करता है, उसी क्षण में बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय और निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है, वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।"

परमेश्वर का यह प्रत्यक्ष बाह्येन्द्रियों के माध्यम से न होकर, सीधा आत्मा-युक्त मन से होता है। मन आन्तरेन्द्रिय है। जिसे साधारणतया अन्तश्चेतना, अन्तःप्रेरणा आदि नामों से अभिहित किया जाता है। ऋषि दयानन्द ने उसे ईश्वरीय प्रेरणा मानते हुए उसके द्वारा परमात्मा के मानसप्रत्यक्ष को स्वीकार किया है।

ईश्वरीय शिक्षा—

अपने से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ प्रभु से जीव इतनी अपेक्षा तो कर ही सकता है कि वह उसे (जीव को) समय-समय पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश करता रहे। यह कार्य परमेश्वर निश्चितरूप से करता रहता है। हृदयस्थित भगवान् धर्म-अधर्म की ओर प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए प्रेरणा करता रहता है। जो आचरण किया जा रहा है, वह अच्छा है या बुरा; विवेचनापूर्वक इस तथ्य का स्पष्ट होना प्रेरणा का स्वरूप कहा जा सकता है। इस विषय में स्वामी दयानन्द का निश्चित मत है—

"जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों में और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे या बुरे कामों में लगाता है, तभी वह बहिर्मुख होता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कामों में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है। वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है।"

पुनः इस मान्यता को आगे बढ़ाते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा न हो उन कर्मों का करना उचित है। जब कोई मिथ्याभाषा, चोरी आदि की इच्छा करता है तभी उसके आत्मा में भय, शंका, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है। इसलिए वह कर्म करने योग्य नहीं।" अल्पज्ञ जीव का अन्तःकरण सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार की प्रेरणा ईश्वर की ओर से ही हो सकती है

और इस प्रकार की शिक्षा जीवात्मा को प्रतिक्षण मिलती रहती है, चाहे वह उसे माने या न माने।

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होने के कारण कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् समर्थ है। वह परमेश्वर के हाथ की कठपुतली नहीं है। यदि जीव को परमेश्वर के इशारों पर ही नाचना पड़े तो समस्त पाप-पुण्य का फल भी उसी को भोगना पड़े। इसलिए प्रेरणामात्र करना उसका काम है। प्राणियों को शुभकर्मों में प्रवृत्त करने अथवा अशुभ कर्मों से निवृत्त करने में वह अपने बल का प्रयोग नहीं करता। इससे जीव का कर्म स्वातन्त्र्य निर्बाध बना रहता है और उसे यह शिकायत करने का अवसर भी नहीं रहता कि समय रहते मुझे किसी ने सावधान नहीं किया।

जगत् मिथ्या नहीं—

भारतीय दर्शन में अनेक सम्प्रदाय जगत् को मिथ्या मानते हैं। उन सभी मतों का निराकरण करते हुए दयानन्द ने जगत् को यथार्थ माना है। अपनी मान्यता की पुष्टि में उन्होंने मुख्यत: निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं—

१—वेदान्तियों के अनुसार यदि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानी जाये तो भी ब्रह्म के सत्य होने से उसका कार्य–जगत् असत्य नहीं हो सकता।

२—स्वप्न के दृष्टान्त से भी जगत् को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि बिना देखे–सुने का स्वप्न नहीं आता। यही कारण है कि जन्मान्ध को स्वप्न में रूप का दर्शन नहीं होता। वस्तुत: जागृत में जो सत्य पदार्थ हैं उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर उनका संस्कार आत्मा में स्थिर रहता है। स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्षरूप में देखा जाता है।

३—अवस्थान्तर को प्राप्त होने से किसी वस्तु का अभाव नहीं हो जाता। स्वप्न और सुषुप्ति में भी पदार्थों का अज्ञानमात्र होता है, अभाव नहीं!

४—यदि रज्जु-सर्पादिवत् जगत् को कल्पित माना जाय तो भी वह मिथ्या सिद्ध नहीं होता। कल्पना गुण है, गुण से द्रव्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं।

५—यदि ब्रह्म से अतिरिक्त जीव की सत्ता नहीं तो कल्पना करने वाला भी ब्रह्म ही है। सत्यस्वरूप ब्रह्म की कल्पना असद्रूप है अथवा मिथ्या नहीं हो सकती।

जगत् दु:खात्मक नहीं—

प्राय: सभी मत-मतान्तरों के प्रवर्त्तकों ने संसार को दु:खमय माना है। इस प्रकार की धारणाओं का प्रतिवाद करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"जो सब दु:ख ही हो और सुख कुछ भी न हो तो सुख की अपेक्षा के बिना दु:ख सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन और दिन की अपेक्षा

से रात्रि होती है। इसलिए सब दुःख मानना ठीक नहीं। दुःख के अनुभव के बिना सुख कुछ भी नहीं हो सकता।"

वस्तुतः सुख-दुःख दोनों सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। इस संसार में सुख भी है और दुःख भी। अर्थात् दुःखात्मक न होकर सुख-दुःखमय है। अनुभव यह भी बताता है कि दुःख की अपेक्षा संसार में सुख अधिक है। इस विषय में अपनी अनूठी सूझ-बूझ का परिचय देते हुए दयानन्द लिखते हैं—

"जीव सुख जान के प्रवृत्त और दुःख जान के निवृत्त होता है। जो सब संसार दुःखरूप होता तो उसमें किसी जीव की प्रवृत्ति न होनी चाहिए। परन्तु संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है। इसलिए सब संसार दुःखरूप नहीं हो सकता। इसमें सुख-दुःख दोनों हैं।"

मुक्ति से पुनरावृत्ति—

भारतीय चिन्तन के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् जीव पुनः जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आता। सामान्यतः सभी विचारकों की यह धारणा रही है। महर्षि दयानन्द इससे सहमत नहीं हैं। उन्होंने लिखा है कि "ब्रह्मलोक में परान्तकालपर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग कर जीव पुनः संसार में आते हैं।" मुक्ति से पुनरागमन नहीं होता; इस पक्ष में प्रस्तुत प्रमाणों की आलोचना करते हुए वे कहते हैं— "यह बात ठीक नहीं, क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है। परमात्मा हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।"

"इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" इस सांख्यसूत्र को उद्धृत करके कहते हैं— "जैसे इस समय बन्धमुक्त जीव हैं वैसे ही सर्वदा रहते हैं, अत्यन्त विच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी नहीं होता, किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती।" न्यायसूत्र के 'तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्गः' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द जी कहते हैं कि 'अत्यन्त' शब्द का अर्थ केवल अत्यन्ताभाव ही नहीं होता अपितु अत्यधिक भी होता है। यहाँ 'अत्यन्त' शब्द का यही अर्थ जानना चाहिए। अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में स्वामी दयानन्द जी का मुख्य तर्क यह है कि जिसके साधन अनित्य हैं उसका फल नित्य नहीं हो सकता। जिस मुक्ति का प्रारम्भ हुआ उसका अन्त भी अवश्य होगा। उनका यह भी कहना है कि यदि मुक्ति से लौट कर कोई जीव संसार में न आये तो एक दिन सृष्टि का उच्छेद हो जाये।

प्राचीन भारत में वेश–भूषा

चांडालों के विशेष संदर्भ में

डा० एस० एन० श्रीवास्तव, पी–एच०डी०, डी०लिट्०
रजिस्ट्रीकरण अधिकारी,
पुरावशेष एवं बहुमूल्य कलाकृति,
गोरखपुर मण्डल, गोरखपुर

यह कहना कठिन है कि आदिमयुग में भारतीयों की वेश-भूषा क्या थी। अभी तक की खोजों से यह पता नहीं लगा है कि वे कपड़े पहनते थे अथवा नहीं, और अगर पहनते थे तो वे चमड़े के बने होते थे या पत्तियों और छालों के। प्रागैतिहासिक गुफा-चित्रों से तो यही पता चलता है कि इस युग के लोग प्रायः नग्न रहते थे।

सबसे पहले भारतीय वस्त्रों एवम् आभूषणों का पता सिन्धु घाटी की प्रागैतिहासिक सभ्यता से मिलता है। मोहन–जोदड़ो और हड़प्पा की यह सभ्यता ३५०० ई० पू० से लेकर १५०० ई० पू० तक फली-फूली तथा इसका सम्बन्ध मध्यपूर्व की सभ्यताओं से था। उत्खनन द्वारा प्राप्त हुई मूर्तियों पर प्रायः स्त्री-पुरुष के वस्त्रहीन चित्र हैं। कभी-कभी उनका केवल आधा शरीर ही कपड़े से ढका हुआ मिलता है। नारियों की कमर में मेखला भी मिलती है। अभाग्यवश मूर्तियों तथा मुद्राओं पर अंकित चित्रों से यहाँ की वस्त्र–व्यवस्था पर प्रकाश नहीं पड़ता। सम्भवतः शरीर को ढकने के लिए दो प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। पहला निम्न भाग के लिए तथा दूसरा ऊपरी भाग के लिए। स्त्रियों के लिए विशेष प्रकार का वस्त्र होता था। यह सिर पर पीछे की ओर से बंधा रहता था। स्त्रियों तथा पुरुषों की वेश-भूषा में कोई विशेष अन्तर न था।

सिंधु घाटी के स्त्री–पुरुषों को आभूषणों से विशेष लगाव था। हार, भुजबन्ध, कंगन, अंगूठी, करधनी, बालों के पिन, कानों की बालियाँ, लौंग, नाक की बालियाँ आदि आभूषण प्रमुख थे। गहनों में प्रयुक्त सामग्री एवं धातु विविध थी। इसमें सोना, चाँदी, हाथी-दाँत के कीमती पत्थर, सीपी, मोती आदि प्रमुख थे।

मोहन–जोदड़ों के नष्ट होने तथा आर्यों के भारत आने के अन्तर में भारतीय सभ्यता की क्या अवस्था थी, इसका पता नहीं है। जब इस अंधकार–युग का पर्दा उठता है, तब हमें वैदिक सभ्यता का दर्शन होता है। वैदिक युग की सभ्यता एक युग की न होकर करीब एक हजार वर्ष में फैली है और उसमें भिन्न २ स्तर मिलते हैं। लेकिन जहाँ तक वस्त्र का सम्बन्ध है, इसमें आठ सौ वर्षों तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इस युग में विजेता आर्यों ने विजितों से बहुत-से वस्त्र ग्रहण कर लिए फिर भी अपने निजो वस्त्रों के प्रति उनका मोह रहा। आर्य प्रमुखत: तीन वस्त्र धारण करते थे– (अ) अधोवस्त्र (ब) उत्तरीय तथा (स) अधिवास। अनेक स्थानों पर उष्णीष (पगड़ी) पहनने का भी उल्लेख है। उनके वस्त्र अकसी के सूत, ऊन और मृगचर्म के बनते थे। वे सिलाई से परिचित थे तथा उनके वस्त्र विभिन्न प्रकार के होते थे। धनी और शौकीन व्यक्ति-रंग बिरंगे वस्त्र भी धारण करते थे।[1] स्त्री तथा पुरुष दोनों ही समान रूप से आभूषण प्रेमी थे। ऋग्वेद में अनेक आभूषणों के नाम–यथा गले में निष्क[2], कान में कर्ण-शोभन[3] तथा शीश पर कुम्ब[4] मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रवादि, रुक्म, भुजबन्ध, केयूर, नुपूर, कंकण, मुद्रिका आदि आभूषण भी धारण किये जाते थे।

उत्तर वैदिककालीन युग में ऋग्वेदकाल के तीन प्रमुख वस्त्रों के अलावा अब वे चीर, चेवर तथा चेल नाम के वस्त्र भी धारण करने लगे थे। कई प्रकार की नीची धोतियों तथा कम्बलों के प्रयोग प्रचुर मात्रा में होते थे। स्त्रियाँ विविध रंगों की सुन्दर तथा कढ़ी हुई लम्बी किनारेदार साड़ियाँ पहनती थीं। पशुओं के चमड़ों से वस्त्र बनाकर ऋषि तथा विद्यार्थी पहनते थे। शंख, मोती, मणि–माणिका, निष्क आदि आभूषणों का प्रयोग स्त्रियाँ ही करती थीं।

सूत्रकाल में पहनावा बहुत सादा था तथा मुख्यत: दो वस्त्र पहने जाते थे। उपरोक्त दो वस्त्रों के साथ एक मेखला व दण्ड परिधान का अंग था। संस्कार या उत्सव के अवसर पर पगड़ी के प्रयोग का विवरण प्राप्त है। ब्राह्मण का उत्तरीय वस्त्र हिरन के, क्षत्रिय का रुरु नामक पशु के और वैश्य का बकरे के चर्म का बनता था। ऊनी–सूती तथा रेशमी वस्त्रों का उल्लेख प्राप्त है। कम्बल तथा ऊनी वस्त्र पिंडदान में दिये जाते थे।

महाकाव्य–काल में साधारणतया लोग दो वस्त्र धारण करते थे[5]–अधोवस्त्र जिसे वास अथवा शाटी[6] कहते थे तथा ऊर्ध्व वस्त्र जिसे उत्तरीय अथवा प्रावार[7] कहते थे। पुरुष अपने शीर्ष पर उष्णी बाँधते थे। स्त्रियों की रंगीन वस्त्रों में विशेष रुचि होती थी। सूती, रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों का प्रयोग मौसम के अनुसार होता था। पुरुष तथा स्त्रियों दोनों में आभूषण धारण करने की प्रथा थी। ये आभूषण सोने, चाँदी, मोती, मूंगे, हीरा, जवाहरात आदि के होते थे।

प्रमुख आभूषणों में चूड़ामणि, कुंडल, हेम-माला, मुक्ताहार, कंठसूत्र, मेखला, केयूर, अंगद, वलय, अंगलीयक तथा नुपूर विशेष उल्लेखनीय हैं। लोहे के आभूषण एकमात्र चाण्डाल तथा बहिष्कृत व्यक्ति ही पहनते थे[8]।

जातक में चाण्डाल का वर्णन लाल रंग के गन्दे अधोवस्त्र पहने जिसके चारों ओर कसी हुई पेटी बंधी है तथा एक गन्दा उत्तरीय पहने और हाथ में मिट्टी का बर्तन लिए हुए मिलता है[9]। एक अन्य जातक से ज्ञात होता है कि चांडाल के पास एक जोड़ी रंगीन वस्त्र (शेष जनसमुदाय से भिन्न करने के हेतु), एक जर्जर जीर्ण वस्त्र तथा एक मिट्टी का पात्र होता था[10]। रामायण के अनुसार वे नीले वस्त्र धारण करते थे[10] (ए)।

मनु के अनुसार चांडालों का वस्त्र मृत व्यक्ति का वस्त्र होता था[11]। उनके आभूषण लोहे के बने होते थे[12]। मनु[13] के अनुसार चांडालों के आभूषण शीशे या लोहे के बने होने चाहिए, उनके गर्दन के चारों तरफ चमड़े का चर्मरज्जु या बाजू के नीचे शेष जनता से भिन्न प्रदर्शित करने वाला सूचकचिह्न होना चाहिए।

मनु का कथन है कि चाण्डालों के भिन्नतासूचक चिह्न राजा के निर्देशानुसार होने चाहिए[14]। राघवनन्द की यह व्याख्या कि चाण्डालों के मस्तक पर चिह्न बनाना चाहिए, किसी भी समकालीन स्रोत से ज्ञात नहीं होती है[15]। सम्भवतः चाण्डालों को शेष जनता से भिन्न दिखने के लिए कुछ विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करने पड़ते थे[16]। ये परम्परागतरूप से लाल पुष्प की माला पहनते थे[17]। ऐसा प्रतीत होता है कि चाण्डालों के वस्त्र तथा आभूषण एक जैसे नहीं होते थे क्योंकि स्मृतियों के अनुसार वे उन्हीं वस्त्रों को धारण करते थे जो दाह के लिए लाये गये शवों से प्राप्त होते थे। कादम्बरी से ज्ञात होता है कि चाण्डाल स्त्रियाँ हाथी दाँत से बने आभूषण पहनती थीं[18] जिसे दन्त-पत्र कहते थे।

सन्दर्भ—

(१) ऋग्वेद २, ३, ६, ४, ३६, ७, ७, ३४, ११
(२) वही २, ३३, १०, ८, ४७
(३) वही १, १२२, १४
(४) वही ६, १३८, ३
(५) महाभारत ४, ३८, ३१
(६) रामायण २, ३२, ३७, महाभारत १२, २०, १
(७) महाभारत ३, ४६, १५, १, ४६, ६

(८) रामायण १, ५८, ११, महाभारत १३, ४८, ३२–३३, मनुस्मृति X, ३६, ५२, ५६, विष्णु धर्मसूत्र १६, ११, १४ अर्थशास्त्र III, ११, महावसु II, ७३

(९) जातक भाग IV सं० ३७९, दृष्टव्य भाग III पृ० २५६ जिसमें पीला वस्त्र पहनने तथा सिर पर पीला कपड़ा बांधने का वर्णन है।

(१०) वही भाग IV, सं० ३७८

(१०)ए रामायण, I, ५८,१०

(११) मनुस्मृति X, १५२, अग्निपुराण १५१, १० एफ, महाभारत अनुशासनपर्व १७, ३२ (दक्षिण संकलन) ८३, ३२

(१२) मनुस्मृति X, ३६, ५२, ५६, विष्णु धर्मसूत्र १६, ११, १४, बालचरित II, ५ महाभारत XIII, ४८, ३२, अर्थशास्त्र III, ११, महावस्तु II, ७३

(१३) मनुस्मृति ९–१०

(१४) मनुस्मृति X, ५५

(१५) रामशरण शर्मा, Sudras in Ancient India, p. २०७, दिल्ली १९५८, लेकिन ए०एन० बोस, Social & Rural Economy of Northern India, Vol. II p. ४३७, कलकत्ता, १९४५ इसे सही मानते हैं।

(१६) मेघातिथि इन चिन्दोके, II, axes, edges तथा अन्य के रूप में होते हैं जिनका प्रयोग अपराधियों को मृत्युदण्ड देने तथा कंधे पर ढ़ोने के लिए होता है। गोबिन्दराज इसकी व्याख्या 'छड़ी तथा अन्य के रूप में' तथा सर्वज्ञ नारायण 'लोहे के आभूषण, मयूरपंख तथा इसी प्रकार की वस्तुएँ' के रूप में करते हैं। Sacred Books of the East, XXV, ४१५, पाद टिप्पणी ५५

(१७) जातक भाग III, ३०

(१८) कादम्बरी, पृ० १३

बिखरे हुए प्राचीन सांस्कृतिक अवशेष

—विनोदचन्द्र सिन्हा एवं
सूर्यकान्त श्रीवास्तव

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्रहालय एवं प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के संयुक्त तत्वावधान में इस वर्ष हरिद्वार के आस-पास के क्षेत्र का पुरातात्विक सर्वेक्षण किया गया। सर्वेक्षण का कार्य दोनों लेखकों के निर्देशन में हुआ। कुछ कार्य प्रथम लेखक के निर्देशन में विजिटिंग प्रोफेसर रतनचन्द्र अग्रवाल के सहयोग से किया गया। सर्वेक्षण–कार्य में संग्रहालय के श्री सुखवीरसिंह एवं बृजेन्द्रकुमार जैरथ ने भी भाग लिया। प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापकों, व्याख्याताओं एवं स्नातकोत्तर छात्रों ने गहरी रूचि दर्शायी। वरिष्ठ प्राध्यापक श्री श्यामनारायण सिंह का सहयोग विशेषरूप से सराहनीय है।

सर्वेक्षण के फलस्वरूप ऐतिहासिक स्थान ही नहीं, बल्कि भारत के प्रागैतिहासिक काल की संस्कृतियों के अवशेष उपलब्ध हुये हैं। एक-एक करके प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध वस्तुओं का निरीक्षण करते हैं।

कांगड़ी ग्राम—

गंगा के बायें किनारे पर हरिद्वार से लगभग १० किलोमीटर दूर कांगड़ी ग्राम जिला बिजनौर में अवस्थित है। यहाँ कोई प्राचीन टीला तो प्राप्त नहीं हुआ लेकिन पाषाण-प्रतिमायें अवश्य मिलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कांगड़ी ग्राम के समीप गंगा में मिलने वाली प्रवाहिनी सिद्धस्रोत पर लगभग ४ किलो मीटर ऊपर पहाड़ियों पर ९–१०वीं शताब्दी में मन्दिर रहा होगा। कालान्तर में मन्दिर नष्ट हो गया और उसके अवशेष बहकर कांगड़ी ग्राम तक आ गये हों। कांगड़ी ग्राम से प्राप्त कई पाषाण–प्रतिमायें पुरातत्व संग्रहालय में संग्रहीत हैं। इस वर्ष के सर्वेक्षण से प्राप्त पाषाण-प्रतिमा अपना विशिष्ट स्थान रखती

प्रो० विनोदचन्द्र सिन्हा, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग एवं पदेन-निदेशक, पुरातत्व संग्रहालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय तथा सूर्यकान्त श्रीवास्तव संग्रहालयाध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं।

हैं। प्रतिमा नर-नारी की युगल कल्पना है। नर शिरविहीन है, आसनस्थ है, दायाँ पैर पीठिका के नीचे लटकाया है, बायाँ पैर मोड़कर पीठिका पर ही रखा है। पैरों में आभूषण हैं। अधोवस्त्र जंघा के ऊपर प्रदर्शित है। जनेऊ, कण्ठहार एवं बाजूबन्द पहिने हैं, उत्तरीय भी दर्शाया गया है। दायें हाथ में कड़ा पहने हैं तथा हाथ ऊपर उठा हुआ है, जिसमें सुरा-प्याला है। बायाँ हाथ बायें पार्श्व में खड़ी सुरा-दायिनी सुन्दरी के कन्धे पर रखा हुआ है। भाव से ऐसा आभास होता है कि पुरुष नारी को अपनी ओर खींच रहा है। जहाँ तक नारीअंकन का प्रश्न है, नारी पुरुष के बायें मुड़े पैर (वाम जंघा) के सहारे आभंग मुद्रा में सकीय की अवस्था में खड़ी हुयी है। दोनों हाथ सुरा-सुराही चषक पकड़े हुये हैं। सौष्ठव शरीरवाली नारी के उन्नत उरोज, पतली कमर, कुछ उभरा हुआ पेट, गहरी नाभि दर्शायी गयी है। केश-विन्यास में जूडा बनाया गया है, जो वेणी द्वारा सज्जित है। आभूषणों में कर्ण-कुण्डल, कण्ठहार, कड़े, करघनी एवं पायल पहने हुये है। उत्तरीय एवं अधोवस्त्र दर्शाये गये हैं। पुरुष के दायें ओर कलश दिखाया गया है। जिसे रत्नघट मानकर प्रो० रत्नचन्द्र अग्रवाल ने इसे कुबेर माना है, जो मद्यपान की हालत में सुरा-सुन्दरी को अपनी ओर खींच रहा है। लेकिन सूक्ष्म निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि दोनों प्रतिमाओं के बायें ओर भी कलश है जो टूट गया है, अतएव स्पष्टतया दृष्टव्य नहीं है। सम्भावना इसकी अधिक है कि दोनों ओर मंगलकलश दर्शाये गये हों और प्रतिमा 'बलराम' की हो, क्योंकि बलराम को भी चषक और सुरा-सुन्दरी के साथ दर्शाया गया है।

श्यामपुर—

कांगड़ी ग्राम से लगभग दो किलोमीटर दूर स्थित है श्यामपुर। यहाँ भी कोई प्राचीन टीला नहीं है, लेकिन ९वीं, १०वीं शताब्दी के मन्दिर के अवशेष मिलते हैं। यहाँ दो प्रतिमायें मिलीं जिसमें एक निःसन्देह सिंहवाहनी दुर्गा की प्रतिमा है।

कुण्डो सोटा—

कांगड़ी ग्राम से लगभग १५ कि०मीटर दूर, जिला बिजनौर में ही स्थित है। इस स्थान का नाम शिवलिंग के ऊपर आधारित है। प्राचीन मन्दिर के टूटे हुये आमलक के मध्य-भाग में काले पत्थर का बना शिवलिंग प्रतिष्ठापित है जो कालान्तर में रखा गया है। स्थानीय भाषा में इसी आधार पर इसका नामकरण हुआ है।

अन्य उपलब्धियों में चतुर्भुजी देवी की प्रतिमा है। प्रतिमाअंकन में देवी का दाहिना पैर महिष राक्षस के सिर पर रखा हुआ दर्शाया गया है और बायें हाथ से पशु की पूंछ बलपूर्वक खींच कर ऊपर उठा रही है। दायें हाथ से

त्रिशूल भेद रही है और दूसरे दायें हाथ में खड्ग लिये है। बायें हाथ में सम्भवतः घण्टी है। सम्भवतः यह प्रतिमा प्रतिहारकाल की है।

मण्डावर—

बिजनौर जिले में बिजनौर के उत्तर में लगभग १५ कि० मीटर दूर स्थित है। इसका उल्लेख चीनी यात्री युवान च्वांग ने भी किया है। कनिंघम ने युवान च्वांग के मा–टी–प्यु–लो को मण्डावर ही माना है। प्राचीन टीला पूर्णतया बसावक्रम में है, अतएव प्राचीनस्थल खोज पाने में कठिनाई हुयी।

यह तो गंगा के बायें किनारे था। अब देखते हैं दायें पार्श्व का सर्वेक्षण—

सतीकुण्ड (जिला सहारनपुर) ✓

हरिद्वार से लकसर जाने वाली सड़क पर चुंगी से कुछ मीटर चलकर बायीं ओर प्राचीन टीला है। टीले से लगा है प्राचीन कुण्ड जिसे सतीकुण्ड कहा जाता है। प्राचीन टीला खेतिहर भूमि के रूप में प्रायः समतल हो गया है। बचा हुआ भाग एक इन्जोनियरिंग कारखाने ने नष्ट कर दिया है। मुश्किल से १० वां भाग सर्वेक्षण के लिये मिला। जिसमें प्राप्त सामग्री २० साल पूर्व भूतपूर्व महानिदेशक एम.एन. देशपाण्डे द्वारा सर्वेक्षण से सूचित गेरुये रंग वाली मृदभाण्ड सभ्यता को प्रमाणित करती है।

मायापुर (जिला सहारनपुर) ✓

मायापुर हरिद्वार (२९°५८′ उत्तर एवं ७८° १०′ पूर्व) के मध्य स्थित है। हरकी पौड़ी नामक स्थान से लगभग ५०० मीटर की दूरी पर स्थित है। यह भाग गंगा नदी और अपर केनाल के मध्य का है। आज से लगभग २० वर्ष पूर्व सर्वेक्षण करके एम०एन० देशपाण्डे ने गेरुये रंग के मृदभाण्ड वाली संस्कृति को खोज निकाला था। वर्तमान में इस पर अखाड़ा निर्मित है, उन्होंने निरीक्षण के लिये सहयोग नहीं दिया।

बहादराबाद (जिला सहारनपुर)

नहर की खुदाई के समय गंगा घाटी के बहुचर्चित ताम्रशस्त्र की प्राप्ति के पश्चात तत्कालीन पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के वरिष्ठ अधिकारी वाई० डी० शर्मा द्वारा उत्खनन कर सम्बन्धित गेरुये रंग की मृदभाण्ड वाली संस्कृति के अवशेष प्राप्त किये थे। कोई प्राचीन टीला न होने के कारण समतल भूमि से कोई उल्लेखनीय प्रमाण नहीं मिले।

नसीरपुर (जिला सहारनपुर)

आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व नसीरपुर ग्राम तहसील मंगलौर से ताम्र-शस्त्र मिले। कितने मिले यह तो कहना कठिन है लेकिन ९ शस्त्र गुरुकुल के भूतपूर्व स्नातक द्वारा गुरुकुल के संग्रहालय में भिजवा दिये जो आज भी प्रर्दाशत हैं। एम०एन० देशपाण्डे ने सर्वेक्षण कर यहाँ से गेरुये रंग के मृदभाण्ड वाली संस्कृति के अवशेष प्राप्त किये। वर्तमान सर्वेक्षण से इसकी पुष्टि होती है।

इमलीखेड़ा—

जिला सहारनपुर में २९° ५६′ उत्तर अक्षांश, ७८° ५४′ पूर्व देशान्तर पर स्थित इमलीखेड़ा के प्राचीन टीले का अधिकांश भाग ग्रामवासियों ने रहने के लिये कब्जा लिया है। लेकिन इस प्राचीन टीले से पश्चिम की ओर स्थित टीले का सर्वेक्षण किया गया जिसमें विभिन्न कालों में प्रयुक्त मृदभाण्डों के अवशेष प्राप्त हुये जिसमें विशेषरूप से उल्लेखनीय है चित्रित धूसर मृदभाण्ड (Painted Grey Ware)। यह मृदभाण्ड महाभारतकाल के अवशेष हैं।

सरसावा (जिला सहारनपुर)

सरसावा सहारनपुर से १५ कि० मीटर दक्षिण की ओर ३०° १′ उत्तरी अक्षांश एवं ७७° २४′ पूर्व देशान्तर पर स्थित है। इसका उल्लेख मुगलकाल से मिलता है। बाबर के काल में यहाँ लगभग ४० मीटर लम्बा–चौड़ा किला बना था जिसकी प्राचीर के अवशेष अभी भी ज्ञातव्य हैं। चारों कोनों पर बनी बुर्जी के अवशेष भी मिलते हैं। आस-पास के सर्वेक्षण से पता चलता है कि इसके चारों ओर खाई थी। कनिंघम ने इसे चीनी यात्री च्वाग द्वारा वर्णित श्रगमा माना है।

सर्वेक्षण में विभिन्नकालों के अवशेषों में गुप्तकाल के मृदभाण्ड एवं शुंगकालीन मृण-मूर्ति ईसा के प्रारम्भिक शताब्दी के अवशेष हैं। इसमें अति विशिष्ट है महाभारतकालीन चित्रित धूसर मृदभाण्डों की खोज, जो इससे पूर्व सूचित नहीं थी। प्राप्त सामग्री के आधार पर सरसावा की प्राचीनता १००० वर्ष ईसा पूर्व आंकी जाना गलत नहीं है।

सुलतानपुर—

हरिद्वार से लकसर मार्ग के लगभग मध्य में ३०° ५′ उत्तरी अक्षांश एवं ७७° २९′ पूर्व देशान्तर पर स्थित है—सुलतानपुर। सुलतानपुर बहलाल लोदी द्वारा बसाया गया था। सुलतानपुर के पूर्व में गंगा के किनारे प्राचीन टीलों की शृंखला है। जहाँ से कुषाणकालीन ईष्टिका (ईंट) एवं मृदभाण्डों के अवशेष मिले हैं। ९वीं, १० वीं शताब्दी में यहाँ कोई समृद्ध शहर रहा होगा। प्राचोन टीले के एक भाग में प्राचीन शिवालय है। लेकिन आस-पास के क्षेत्र में विभिन

खण्डित पाषाण-प्रतिमायें मिलती हैं। इसमें मुख्य है समुद्र-मन्थन की दृश्यावली जो किसी मन्दिर के द्वार के ऊपरी भाग में उत्कीर्ण थी। इसके अतिरिक्त यहाँ से प्राप्त हुयी है विद्याधर या दिग्पाल की प्रतिमा जो मन्दिर के विशाल मण्डपों के स्तम्भ के ऊपरी भाग में प्रतिष्ठित की जाती थी। प्रतिमा ९वीं-१०वीं शताब्दी की है। प्रतिमा के पैर पीछे की ओर मुडे हैं अर्थात् घुटनों के बल बैठी हुयी है। पेट बाहर की ओर निकला है। नियोजित केश-सज्जा है, गले, हाथ, पैर और कमर में आभूषण हैं। चार हाथ हैं, दो हाथ जंघा पर रखे हुये और दो हाथों पर आकाशीयभार साधा हुआ है।

इसके अतिरिक्त देहरादून जिले में स्थित कालसी क्षेत्र का भी सर्वेक्षण किया गया है। कालसी मौर्यराजा अशोक के शिलालेख के सन्दर्भ में जाना जाता है। लेकिन सर्वेक्षण में प्रथम बार मौर्यकालीन मृदभाण्डों के अवशेषों को प्राप्त किया गया। यमुना के कटावों के निरीक्षण से एक पानी से घिसा हुआ हस्त-कुठार (Hand axe) भी प्राप्त हुआ है जो अपने आपमें सर्वथा नवीन खोज है।

गत पृष्ठों में हम एक-एक करके सभी स्थानों का विवरण दे चुके हैं। इस सर्वेक्षण से इतना निश्चित है कि आस-पास के क्षेत्र में हमारी प्राचीन संस्कृतियाँ दबी पड़ी हैं। जिन्हें खोज कर अपने अतीत के इतिहास का सृजन करना आवश्यक है। इस छोटे पैमाने पर किये गये सर्वेक्षण से हरिद्वार ही नहीं, आस-पास की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

संक्षेप में देखा जाये तो इस क्षेत्र का इतिहास ईसा-पूर्व २००० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो जाता है। इस काल में प्रचलित गेरुये रंग वाली मृदभाण्ड वाली सभ्यता के अवशेष सतीकुण्ड, मायापुर, नसीरपुर एवं बहादराबाद से मिलते हैं। इसी काल में प्रचलित ताम्रशस्त्र, जो गंगा घाटी की अपनी देन है, नसीरपुर एवं बहादराबाद से मिलते हैं।

कालक्रम में इसके पश्चात महाभारतकालीन चित्रित धूसर मृद-भाण्ड वाली संस्कृति का काल है। इमलीखेड़ा के पास मोहनपुर एवं सरसावा इसके उदाहरण हैं। भूरे रंग की चित्रित मृदभाण्ड वाली संस्कृति में वर्तमान में प्रचलित थाली, लोटा और कटोरी के खाने के बर्तन सर्वप्रथम मिलते हैं। जो आर्यों के साथ आयी संस्कृति की द्योतक हैं।

तत्पश्चात शुंग, कुषाण, गुप्तकाल की संस्कृतियों के अवशेष मृदभाण्ड, मृणमूर्तियाँ एवं पाषाण प्रतिमाओं के रूप में मिलते हैं।

सर्वेक्षण के परिणाम इतने उत्साहवर्धक हैं कि दोनों ही लेखकों ने सर्वेक्षण की विस्तृत योजना बनायी है तथा उत्खनन का भी निश्चय है, जिससे इस क्षेत्र का क्रमबद्ध इतिहास बनाने में योग दिया जा सके।

शिक्षा-पद्धति : एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण

डॉ० भगवन्त सिंह
प्राध्यापक, दर्शन विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

लार्ड मैकाले के नाम से जानी जाने वाली वर्तमान शिक्षा-पद्धति दशाब्दियों से परिवर्तन और परिवर्द्धन का विषय बनी हुई है। सामान्यतया प्रत्येक वस्तु के गुण और दोष, दो पहलू हुआ करते हैं; किन्तु वर्तमान शिक्षा पद्धति का, वर्तमान एवं भविष्य के परिप्रेक्ष्य में दोषों का ही पलड़ा भारी हो रहा है। आज शिक्षा के साथ माखौल इतना बढ़ता जा रहा है कि अब 'ज्ञान के लिए शिक्षा' के स्थान को 'उपाधि के लिए शिक्षा' अथवा 'नौकरी के लिए शिक्षा' की परम्परा ने ले लिया है। यही कारण है कि आज के परिप्रेक्ष्य में अपने को शिक्षित कहने वाले युवक या युवतियाँ जब जीवन के चौराहे पर आते हैं तो भ्रमित होकर सांसारिक चकाचौंध में फंसकर अपने को बेकार कहने लगते हैं। प्रश्न उठता है कि आखिर यह त्रासदी और लक्ष्यहीनता क्यों ?

उत्तम शिक्षा-पद्धति, जो देश एवं समाज के लिए स्वस्थ नागरिक पैदा कर सके, की अपनी कुछ विशिष्टतायें हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में वर्तमान शिक्षा-पद्धति की गुणवत्ता का आंकलन किया जा सकता है।

१. विद्यालयों में समानता—

इक्कीसवीं सदी के अखण्ड भारत में एकरूपता लाने के लिए तथा उसके समरूप स्वस्थ नागरिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-पद्धति के साथ-साथ उससे पूर्व शिक्षा-व्यवस्था पर वास्तविक रूप से (न केवल कागज़ पर) ध्यान दिया जाये। विषमता एवं विखण्डता में पलने वाला आज का बालक युवा होने पर कल का स्वस्थ नागरिक कैसे बन पाएगा ? एक तरफ तो कुछ बच्चे गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं में शिक्षा प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर देश के मूल में रहने वाली ७०% राष्ट्रीय कर्णधार ग्रामीण जनता के अधिकांश या सभी बच्चों को यह भी नहीं पता रहता कि उनके विद्यालय, बगीचे के किस वृक्ष के नीचे, किस दिन, कौन-सी कक्षाएँ चलायेंगे ? इसमें एकरूपता आवश्यक है।

२. शिक्षा में समानता—

समग्र राष्ट्र में एकरूपता लाने के लिए यह भी आवश्यक है कि कान्वेन्ट

स्कूल, पब्लिक स्कूल, केन्द्रीय विद्यालय तथा जिला परिषदों के माध्यम से चलने वाले विद्यालयों में से किसी भी एक को ही विकसित कर चलाया जाये। बच्चों में राष्ट्रीयचरित्र के संस्कार को उत्पन्न करने वाली इन शिक्षण-संस्थाओं में ऐसी विषमता अपने राष्ट्रीय-लक्ष्य के लिए साधक हो रही है या बाधक, इसका निणय पाठक ही करेंगे। वैसे हमारे युवा प्रधानमन्त्री जी ने अपनी अत्यल्प शासनावधि में ही इस तरफ पर्याप्त ध्यान केन्द्रित कर लिया है।

३. शिक्षा की अनिवार्यता—

इक्कीसवीं सदो के पूर्णसाक्षर भारत की कल्पना के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा को प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य बना दिया जाये। यदि कोई संरक्षक निर्धारित आयु के बाद अपने बच्चों को विद्यालय नहीं भेजता तो उसे दण्डनीय अपराध माना जाए। किन्तु इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को आमतौर पर सस्ती करते हुए इसे गरीब तबकों के लिए निःशुल्क (मुफ्त) कर दिया जाये। इस प्रकार राजकीय संसाधनों से शिक्षा को प्रत्येक नागरिक प्राप्त करना चाहेगा और सुलभ करेगा भी। आज की इस आवश्यकता को स्वामी दयानन्द जी ने शताब्दीपूर्व ही महसूस कर सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में शिक्षा की अनिवार्यता पर बल प्रदान किया है।

४. भाषागत समानता—

राष्ट्रीयचरित्र पैदा करने के लिए आवश्यक है कि शिक्षा का मूलाधार राष्ट्र–भाषा हो। उच्च शिक्षा के लिए, अपेक्षित होने पर वैकल्पिक भाषाओं का ज्ञान उच्चस्तर पर दिया जा सकता है। भाषागत समस्याओं के पालने में झूलते हुए भारत के उदीयमान सितारों का अधिकांश समय भाषा सीखने में ही समाप्त हो जाता है. फलतः राष्ट्रीय-प्रतिभाओं के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस सन्दर्भ में भी गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का कार्य समय से पूर्व ही सराहनीय रहा है। आज से लगभग ८३ वर्ष पूर्व ही विज्ञान की पुस्तकों को हिन्दो भाषा में तैयार कराकर और उसकी शिक्षा हिन्दी माध्यम से प्रदान कर, गुरुकुल ने आज के शिक्षाविदों के सामने उपस्थित होने वाली भाषागत समस्याओं को चुनौती प्रदान की है। गुरुकुल के तत्कालीन मुख्याध्यापक श्री गोवर्धन शास्त्री की पुस्तकों का नाम आज भी विज्ञानविदों के मध्य आदर से लिया जाता है।

५. राष्ट्रीय–चरित्र का निर्माण—

देश की एकता एवं अखण्डता की भावना को जनमानस में जागृत करने के लिए आवश्यक है कि उपरिलिखित विद्यालयीय एवं भाषायी विषमताओं को दूर कर, राष्ट्रीयस्तर पर समरूपता लायी जाये जिससे जातिगत एवं क्षेत्रगत सीमाओं से उठकर, नागरिक राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत होकर, राष्ट्रीय विकास में निष्ठा एवं त्याग की भावना से अपने को समर्पित कर सके। इसके

लिए आवश्यकता इस बात की है कि अध्ययन-अध्यापन तथा कार्यालयीय प्रयोग में एकमात्र राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रयोग को कागज़ी आदेश से हटाकर व्यवहार में लाया जाये। एक भाषा एवं एक-से विद्यालय के छात्र-नागरिक आपस में तथा राष्ट्र के प्रति विकासशील परिवार के सदस्यों की भाँति समग्र विचारधारा से कार्य करेंगे। इस सन्दर्भ में गुरुकुलीय व्यवस्था की समरूपता एक अनुकरणीय आदर्श है।

६. मानवीय-मूल्यों का विकास—

वर्तमान भारत दिन-प्रतिदिन विकास के नाम पर भारतीय संस्कृति का परित्याग कर, पाश्चात्य भौतिकता की तरफ अग्रसर होता जा रहा है। इस क्रम में मानवीय मूल्यों का नित तीव्र गति से ह्रास हो रहा है और अनैतिकता तथा संकुचितता का विकास हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि पब्लिक एव कान्वेन्ट स्कूलों की चकाचौंध प्रदान करने वाली शिक्षा से दूर हटते हुए, भारतीय संस्कृति की निधि—वेदों पर आधारित शिक्षा के साथ-साथ नीतिशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य किया जाये।

७. तकनीकी एवं सामाजिक शिक्षा—

देश के तकनीकी विकास को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा को तकनीकी बनाना भी आवश्यक हो गया है। कम्प्यूटर के अत्याधुनिक युग में लार्ड मैकाले की लिपिकोत्पादक शिक्षा अनिवार्यत: परिवर्तनीय है। जिस प्रकार एम. बी. बी. एस. की डिग्री प्राप्त करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी-डाक्टर को एक वर्ष का प्रयोगात्मक अनुभव 'हाउस जॉब' करना पड़ता है, उसी प्रकार कोई-भी परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात, उपाधि को प्राप्त करने से पहले, प्रत्येक विद्यार्थी को ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँच कर सामाजिक उत्थान के कार्य करना अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। इससे विद्यार्थी को कागज़ी ज्ञान के साथ-साथ समाज की व्यावहारिक बुराइयों तथा समस्याओं का भी ज्ञान हो सकेगा जिसके निवारणार्थ वह अपने जीवन में कुछ प्रयास अवश्य करेगा। साथ ही राष्ट्रीय सेवा योजना जैसे कार्य-क्रमों को अधिक व्यावहारिक बनाकर उनके अनुपालन तथा कार्यान्वयन में गति लायी जानी चाहिए।

८. नारी-शिक्षा की अनिवार्यता—

"परिवार नागरिक जीवन की प्रारम्भिक पाठशाला है" और परिवार के ढाँचे में रीढ़ का कार्य करती है-नारी। अस्तु स्वस्थ एवं राष्ट्रीय-चरित्र का नागरिक बनाने के लिए आवश्यक है कि नारी-शिक्षा को पूर्णत: नि:शुल्क और अनिवार्य कर दिया जाए ताकि शिक्षित माताएँ अपने शिशुओं को उत्तम-संस्कार प्रदान कर सकें। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए हमारे युवा प्रधानमन्त्री ने इस क्रम में ठोस कदमों की घोषणा की है, जिसमें सर्वप्रथम नारी-शिक्षा को

हाई स्कूल तक निःशुल्क घोषित किया जा चुका है। इस आवश्यकता को स्वामी दयानन्द ने लगभग शताब्दीपूर्व ही महसूस किया था और नारी-उद्धार के आवश्यक अंग के रूप में नारी-शिक्षा पर बल भी दिया था, जिसके अनुरूप आर्य समाज ने अनेकानेक स्थानों पर अलग-से कन्या गुरुकुलों की स्थापना की।

उपरोक्त अनेकानेक अपेक्षाओं को शिक्षा-पद्धति से जोड़ने के साथ-साथ एक मूल अपेक्षा यह भी है, जिसकी तरफ युवा-हृदय-सम्राट हमारे प्रधानमन्त्री महोदय ने ठोस कदम उठा लिया है, वह है—डिग्री या उपाधि का सेवाओं या नौकरियों से सम्बन्धविच्छेद। वास्तव में जो भी चीज किसी अन्य चीज की प्राप्ति के लिए अनिवार्य अर्हता मान ली जाती है उसकी प्राप्ति की तरफ सामान्य होड़-सी लग जाती है। येन-केन-प्रकारेण उस अर्हता को प्राप्त कर लक्ष्यप्राप्ति के लिए साधारण से लेकर भ्रष्ट तरीकों तक का इस्तेमाल करने लगते हैं। इसलिए सेवाओं से उपाधि का सम्बन्ध-विच्छेद कर उपार्जित योग्यताओं के आधार सेवा में भर्ती करके एक तरफ तो भ्रष्टाचार से मुक्ति मिल सकती है और दूसरी तरफ योग्य व्यक्तियों का उपयुक्त सेवाओं में चयन भी होगा तथा शिक्षित बेरोजगारी जैसी बीमारी का भी स्वतः उन्मूलन हो जायेगा।

अब प्रश्न उठता है कि क्या वर्तमान शिक्षा-पद्धति को, शिक्षा-व्यवस्था समकालीन परिस्थितियों में पूर्णरूपेण क्रियान्वित कर पा रही है या नहीं। यदि नहीं तो इसके क्रियान्वयन में कौन-सी वस्तु बाधक है ? मेरे विचार से शिक्षा-व्यवस्था का मुख्य अंग परीक्षा है। वर्तमान समय में 'नकल' जैसी सामान्य बीमारी उपाधि-प्राप्ति के लिए कैंसर की तरह परीक्षा-ढांचे में लग गयी है, जिसके निवारणार्थ प्रशासन को अत्यधिक समय और धन का नुकसान सहन करना पड़ता है। इस नकल का मुख्याधार चुने हुए वर्णनात्मक प्रश्न-पत्र प्रमुख रूप से हैं। ये प्रश्न प्रायः अगले वर्ष दोहराये नहीं जाते और यदि दोहरा दिये जाते हैं तो परीक्षार्थी परीक्षा का बहिष्कार कर देते हैं। परीक्षा की इस कैंसररोग से मुक्ति का एक मार्ग मेरे भी मस्तिष्क में आता है जो हो सकता है कि नयी शिक्षा-पद्धति के लागू होने तक या उसके बाद भी उपयोगी हो। परीक्षा के प्रश्न-पत्रों को वर्णनात्मक करने के बजाय क्यों न वस्तुनिष्ठ कर दिया जाय। ये छोटे-छोटे वस्तुनिष्ठ (ऑबजेक्टिव) प्रश्न, पाठ्यक्रम के आद्योपान्त भाग से लिए जायें तथा प्रश्नपत्र उत्तर-पुस्तिकाओं के साथ ही जमा करा लिये जायें। परीक्षार्थी न तो चुने हुए प्रश्नों के न आने पर परीक्षा का बहिष्कार (वाक्-आउट) करेगा और न ही वह कुछ चयनित (सेलेक्टिड) प्रश्नों के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखेगा। इस स्थिति में नकल का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा।

इस प्रकार प्राप्त शिक्षा राष्ट्र एवं समाज के लिए उपयोगी नागरिक पैदा कर सकेगी, ऐसी मेरी मान्यता है। **

सोवियत संघ की शिक्षा में हिन्दी का स्थान*

—डा० आर० एल० वार्ष्णेय
एम.ए.,पी-एच.डी.,सी.टी ई.,डिप.टी.ई.,
रीडर, अंग्रेजी विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सोवियत संघ विश्व की महानतम शक्तियों में से एक शक्ति है। परन्तु महाशक्ति बनने में यहाँ के नागरिकों के चिरस्मरणीय त्याग और परिश्रम का अनुकरणीय योगदान है। वहाँ के नागरिक अत्यन्त सुसंस्कृत और अनुशासनप्रिय हैं। वहाँ जनशक्ति का अभाव है, इसलिए मशीनों का प्रयोग अधिक है। क्रूर-प्रकृति और कटु-धरती के बावजूद वहाँ बहुमुखी प्रगति हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि सोवियत नागरिकों ने प्रकृति पर नियंत्रण पा लिया है।

रूस में डिग्री तथा रोजगार का सम्बन्ध भारत की अपेक्षा कम है। बेरोज़गारी, कीमत बढ़ने, मुद्रा-स्फीति, कालाबाज़ारो, घाटे की अर्थ—व्यवस्था आदि समस्याओं से भी वह देश मुक्त है। सफाई का स्तर स्वर्ग जैसा है। भवन-निर्माण, आयुध, हवा और पानी के जहाज, मोटर, रेल, आणविक शक्ति और परा-अपरा विद्याओं, तथा भारी उद्योगों में रूस ने जो प्रगति की है, उसमें वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका है।

सोवियत संघ की शिक्षा में हिन्दी का स्थान निर्दिष्ट करने से पूर्व वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का सूक्ष्म विश्लेषण लाभकारी होगा। शिक्षा, स्वास्थ्य, भवन, रोजगार, ट्रांस्पोर्ट, भोजन आदि की व्यवस्था करना सरकार का कार्य है। ये सभी सुविधायें वहाँ के नागरिकों को या तो मुफ्त या बहुत कम पैसे देकर प्राप्त हो जाती हैं। समानता तथा वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था सर्वोपरि है। इन्हीं सिद्धान्तों पर वहाँ की शिक्षा—व्यवस्था भी आधारित है।

रूसी शिक्षा में महिलायें अग्रणीय हैं। लगभग ९५ प्रतिशत शिक्षा वहाँ महिलायें ही प्रदान करती हैं। इसके दो स्पष्ट लाभ हैं–पुरुषों को भारी तथा अधिक जोखिमपूर्ण कार्यों, मिलिट्री तथा पुलिस सेवाओं में प्रयुक्त करके, आंतरिक हल्के कार्य महिलाओं द्वारा कराकर, जनशक्ति के अभाव की पूर्ति तथा नारी के द्वारा

*रेडियो वार्ता—आकाशवाणी नजीबाबाद से ४ अगस्त, १९८५ को प्रसारित।

देश की शिक्षा का कार्य कराकर, उनसे प्राप्त होने वाली भावी संतान को सुसंस्कृत तथा शिक्षित बनाने का कार्य प्राकृतिक रूप से, स्वत: तथा सुचारू ढंग से कर लेना।

शिक्षा अधिकांशरूपेण मौखिक रूप से दी जाती है। यहाँ तक कि अधिकांश परीक्षायें भी मौखिक ही होती हैं। विज्ञान और टैक्नोलॉजी का अध्ययन प्रारम्भ से ही है। आठवीं कक्षा तक शिक्षा अनिवार्य है। सभी पढ़ने वाले छात्रों में से लगभग एक-तिहाई छात्र आठवीं कक्षा के पश्चात वोकेशनल (व्यावसायिक) शिक्षा प्राप्त करने वोकेशनल स्कूल्स में चले जाते हैं। उच्च-शिक्षा के लिए विशेष योग्यता प्राप्त लोग ही भर्ती होते हैं। विश्वविद्यालयों में प्रवेश, देश की आवश्यकताओं के अनुसार ही मिलता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रतायें कम हैं, परन्तु कलात्मक और सांस्कृतिक रुचियों के अनुरूप व्यक्तिगत विकास के हेतु दरवाजे सदैव खुले रहते हैं। रूसी लोग जो कुछ भी करते हैं, बहुत अच्छी तरह से करते हैं और हर क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीयस्तर तक उठने का प्रयत्न करते हैं। लापरवाही, उदासीनता, अनुशासनहीनता, कानून-व्यवस्था की समस्यायें, हड़तालबाजी, घेरावबाजी वहाँ नहीं है। हाँ, मदिरापान तथा धूम्रपान की बीमारी वहाँ भारत से अधिक गम्भीर है। इस क्षेत्र में महिलायें भी मर्दों की बराबरी कर रही हैं।

सोवियत संघ में भाषा की समस्या भारत जैसी ही है। वहाँ पन्द्रह रिपब्लिक (राज्य) हैं और प्रत्येक राज्य की अपनी अलग भाषा है। यहाँ तक कि रूसी भाषा, जो कि राष्ट्रभाषा है, भी अनेक रूपों तथा बोलियों में क्षेत्रीय विशेषताओं से युक्त है। वहाँ प्रारम्भिक शिक्षा मातृभाषा अथवा रूसी भाषा में दी जाती है। अधिकांश राज्यों की अपनी अलग भाषायें है। मातृभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा का पढ़ना अनिवार्य है। पाँचवीं कक्षा के पश्चात अधिकाँश विद्यार्थियों को तीन भाषा पढ़नी पड़ती हैं-मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, तथा कोई एक अन्य राज्य की भाषा। जिनकी मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा एक ही है उन्हें एक अन्य राज्य की भाषा पढ़ाई जाती है ताकि त्रिभाषा फार्मूला समान रूप से सब पर लागू हो सके।

सोवियत संघ की शिक्षा में भाषाओं का विशेष स्थान है। महाशक्ति की भूमिका अदा करने, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास तथा जासूसी कार्य-वाहियों के लिए सोवियत संघ को अनेक भाषाओं के ज्ञान की आवश्यकता है। अत: रूस में विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं के जानने वाले मिल जायेंगे। विदेशी भाषाओं में अंग्रेजी के अतिरिक्त जर्मन, फ्रेंच, चीनी, जापैनीज़ आदि अधिक प्रचलित हैं। साथ-ही रूस के मित्र देशों की भाषायें तथा एफ्रो-एशियन देशों की भाषायें भी सिखलाई तथा पढ़ाई जाती हैं। भारत के साथ रूस के राजनैतिक

सम्बन्ध अच्छे होने के कारण, रूसी सरकार तथा नागरिक भारतीयों को बड़े आदर और सत्कार से देखते हैं और वहाँ के लोग भारतीय-संस्कृति, कला और भाषाओं को बड़ा स्नेह और सम्मान देते हैं। अस्तु, रूसी शिक्षा में हिन्दी ने अपना स्थान बना लिया है।

सम्पूर्ण सोवियत संघ में दो या तीन स्कूल ऐसे हैं जहाँ हिन्दी बचपन से ही पढ़ाई जाती है। इस तरह का एक स्कूल, बोर्डिंग स्कूल नं० ४, लेनिनग्राद में भी है। यह हिन्दी स्कूल के नाम से विख्यात है। मैं अपनी रूस यात्रा के दौरान इस स्कूल में गया और वहाँ हिन्दी के पठन-पाठन को देखा। विद्यार्थी अत्यन्त रुचि के साथ हिन्दी पढ़ रहे थे। पढ़ाने की प्रणाली आधुनिक थी और ऑडो-विज्वल तरीके पर आधारित थी। परन्तु छात्रों के पास कोई भी पाठ्य-पुस्तक नहीं थी। वहाँ के प्रधानाचार्य ने बताया कि उन्होंने अनेक भारतीयों से प्रार्थना की है कि वे इस विषय में उनकी कुछ मदद करें।

जो भी भारतीय उस स्कूल में गये हैं, यह वायदा करके आये हैं कि वे कुछ-न-कुछ करेंगे। मैंने प्रधानाचार्य से कहा कि भारत में एन०सी०आर०टी० ने जो पुस्तकें भारतीय बच्चों के लिये प्रकाशित की हैं, उन्हें वे अपना आधार मानकर आगे बढ़ सकते हैं। इस विषय में वे मास्कोस्थित भारतीय दूतवास को लिखें। रूस में हिन्दी की दयनीय दशा के लिये भारतीय अधिकारी और सरकार ही अधिक उत्तरदायी है, क्योंकि रूसी सामाजिक तथा राजनैतिक ढाँचा इस प्रकार का है कि किसी भी व्यक्तिविशेष को महत्ता नहीं देता और रूसी नागरिकों को वे व्यक्तिगत स्वतंत्रतायें प्राप्त नहीं हैं जो हम भारतीयों को प्राप्त हैं।

सोवियत संघ में हिन्दी की प्रगति में एक विशेष बाधा है—दोनों देशों की सरकारों की लालफीताशाही। तीसरी बाधा है भारत में अनेक भाषाओं का होना। इसलिए सोवियत संघ में हिन्दी के साथ भारत की क्षेत्रीय भाषाओं—बंगाली, तामिल, तेलुगू, कन्नड़, पंजाबी, मराठी, गुजराती, आदि भाषाओं के पढ़ने के साधन भी विद्यमान हैं और वहाँ की सरकार इन भाषाओं के पठन-पाठन की भी व्यवस्था करनी है और अनेक रूसी नागरिक गत वर्षों में इन भाषाओं को सीखने के लिए भारत भेजे गये हैं। रूस में संस्कृत भाषा को विशेष आदर से देखा जाता है।

हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा रूस के मास्को तथा लेनिनग्राद विश्वविद्यालयों की ओरियन्टल फैकल्टीज में होती है। मास्को में एक पूर्व की विद्याओं का पूर्ण विश्वविद्यालय भी है। मास्को की प्यूपिल्स यूनिवर्सिटी में हिन्दी की एक पीठ है और वहाँ का हिन्दी विभाग, हिन्दी के प्रचार-प्रसार का

का रूस में सबसे बड़ा केन्द्र है। हिन्दी जानने वाले जिन रूसी नागरिकों से मैं मिला, वे हिन्दी में अत्यन्त दक्ष थे।

एक सायं मास्को की बस में यात्रा करते समय, एक सज्जन मेरा भारतीय पहनावा देखकर मेरे पास आ गये और मुझसे सीधे हिन्दी में बातचीत करने लगे। उन्होंने बताया कि वे रूस के किसी उत्तरीयप्रान्त के निवासी थे और पिछले १८ वर्षों से हिन्दी का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने कहा कि वे पिछले १८ वर्षों से ऑल इण्डिया रेडियो से हिन्दी में प्रसारित समाचार सुनते आ रहे हैं। सामान्यत: रूसी नागरिकों को प्रत्येक भारतीय वस्तु से प्रेम है और भारतीयों को वे विशेष स्नेह और सम्मान प्रदान करते हैं। इंग्लैण्ड, कनाडा तथा अमेरिका में जो रंग-भेद है, वह रूस में नहीं। रूसी-हिन्दी भाई-भाई व्यवहार में देखा जा सकता है।

परन्तु जिन रूसी लोगों ने हिन्दी को अपनाया है उन्हें अच्छा रोज़गार प्राप्त करने में कठिनाई आई है। भाषाओं के जानने वाले अधिकांशत: वहाँ दुभाषियों तथा टूरिस्ट-गाइडों का कार्य करते हैं। उनमें से कुछ ने बताया कि हिन्दी पढ़ने से उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। उल्टे उन्हें रोजगार प्राप्त करने हेतु हिन्दी के अतिरिक्त एक और विदेशी भाषा पढ़नी पड़ी।

यह कहना गलत न होगा कि सोवियत संघ में हिन्दी अभी शैशव-अवस्था में ही है। इसे बढ़ाने और समृद्ध करने के लिए सरकारी-स्तर और भारत में स्थित हिन्दी-संस्थानों और डाइरेक्टरेटों को अभी बहुत कुछ करना होगा। मास्को-स्थित भारतीय दूतावास का, विशेष रूप से वहाँ के शिक्षा विभाग का बड़ा दायित्व है। वहाँ की सरकार से मिलकर वहाँ के प्रमुख नगरों में हिन्दी-संस्थान तथा हिन्दुस्तानी केन्द्र खोलने होंगे और प्रारम्भ में उनको चलाने के लिए कुछ भारतीयों की उनमें नियुक्तियाँ आवश्यक हैं। हिन्दी का अपार-सागर, जो हमारे देश में है, उनकी कुछ बूंदे वहाँ की जनता को गंगाजल की तरह बाँटनी होंगी तभी हिन्दी का प्रोत्साहन सही रूप में हो सकेगा।

पवाया का दुर्लभ सिरदल

डॉ० (कु०) कृष्णा गुप्ता
नगरिया सदन, खूबी की बजरिया
ग्वालियर (म०प्र०)

भारतीय शिल्पकला में वर्णनात्मकपरम्परा काफी समृद्ध एवं सैद्धान्तिक रही है। इस परम्परा ने सांस्कृतिक एवं पौराणिक कथा-अभिप्रायों को अपना आधार बनाकर, भारतीय कला को अनुपम कृतियाँ प्रदान की हैं। कथा-वृत्तान्तों का प्रारम्भिक अंकन भरहुत, सापी, बेसनगर, मथुरा, कौशाम्बी, अमरावती, नागार्जुनकोडा, बोधगया, खण्डगिरि–उदयगिरि आदि विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध होता है। यद्यपि इन स्थानों में अपनाई गयी शैली में कुछ भिन्नता है, परन्तु अभिव्यक्त करने की पद्धति एवं प्रकार कुछ सीमा तक समानता लिये हुये है।

मध्यक्षेत्र में राम एवं कृष्ण को लीलाओं का वृत्तान्तात्मकचित्रण गुप्तकालीनस्थल, विशेषकर नायना एवं एरण में उपलब्ध होता है। ग्वालियर क्षेत्र में पवाया (प्राचीन पद्मावती) का सिरदल (मन्दिर-तोरण) इस परम्परा में विशेष महत्त्व रखता है। केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय, गूजरी महल, ग्वालियर में संग्रहीत यह तोरण अपने मूल प्राप्ति–स्थल पवाया की कला एवं स्थापत्य की विशिष्टताओं को अपने में सँजोये हुये है। ५वीं शताब्दी का यह सिरदल कलात्मक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, अभिप्रायों की विविधता को भी अपने में सँजोये हुये है। पौराणिक-आख्यानों के साथ-साथ लगभग २ फीट लम्बे एवं २ फीट चौड़े प्रस्तर–खण्ड पर इसमें गीत–नृत्य का अनुपम दृश्य अंकित है। गुप्तकला का यह अप्रतिम उदाहरण है।

इस तोरण के दोनों ओर पौराणिक कथानक अंकित हैं। तोरण के अग्रिम एवं पृष्ठ भाग में दो–दो दृश्य अंकित हैं। अग्रिम भाग में राजा बलि के द्वारा यज्ञ करना एवं विष्णु के द्वारा जिविक्रम-स्वरूप में त्रिभुवन को लांघना दर्शाया गया है। इस पौराणिक कथानक को सम्पूर्ण धार्मिक क्रियाओं के साथ सुन्दर रूप में वर्णित किया गया है। यज्ञ–स्थली, यज्ञस्तम्भ, यूप, अग्नि–ज्वालायें एवं यज्ञ–पशु (मेष) आदि सब कथानक के अवसर के अनुरूप ही दर्शाये

गये हैं। यूप के समीप पुरोहित हाथ में फलिकरण-पात्र लिये हुये बैठे हैं, सामने राजा बलि सपत्नीक पीठिका पर अवस्थित है। रानी की मुखभंगिमा एवं केशसज्जा कलात्मक है। इसी के समीप कथानक का वह दृश्य है, जहाँ राजा बलि जल-पात्र लिये हुये पवित्र-जल को छिड़ककर संकल्प के द्वारा अन्तिम उत्सर्ग कर रहे हैं। बलि के पीछे गुरु शुक्राचार्य एक हाथ ऊपर उठाकर इन्कार-मुद्रा में इस कृत्य के लिये मना कर रहे हैं। बलि के समीप विष्णु वामनरूप में खड़े हैं। प्रथम चरण में राजा बलि वामन को संकल्प के द्वारा दान प्रदान करते हैं एवं द्वितीय चरण में वामन विराट रूप धारण करके त्रिभुवन को लांघते हैं। विराट-स्वरूप विष्णु बड़े-ही स्वाभाविक अंकित किये गये हैं। उनका एक पैर ऊपर प्रसारित है जो कि ब्रह्माण्ड को नाप रहा है। उनके समीप ही भूदेवी एवं श्रीदेवी खड़ी हैं। ऊपर सूर्य एवं चन्द्र को दर्शाया गया है।

इस पौराणिक कथानक के ऊपर गवाक्षों में स्त्रियाँ नृत्यमुद्रा में दृष्टि-गोचर होती हैं। ये आठ स्त्रियाँ पृथक-पृथक झरोखों में हैं। इनके हाथों की मुद्रा एवं केशसज्जा पृथक-पृथक है। परिचारिका के रूप में एक स्त्री द्वार पर अवस्थित दर्शायी गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि समारोह के साथ ही नैपथ्य में नृत्य-संगीत हो रहा है।

इस पौराणिक-आख्यान के समीप ही तोरण में दायें ओर गीत-नृत्य का दृश्य है, जिसके कारण यह तोरण विशेष उल्लेखनीय रहा है। पवाया के इस नृत्य-दृश्य में स्त्रियों को नर्तक एव वादकरूप में सामूहिक रूप में दर्शाया गया है। मध्य में प्रमुख नर्तकी सुन्दर भावभंगिमा में नृत्य कर रही है। उसका दायां पैर बायें पैर के दूसरी ओर है और बायां पैर पीछे की ओर कुञ्चित अवस्था में अवस्थित है। उसके हाथ कटकमुख हस्तमुद्रा में एवं लता हस्तमुद्रा में हैं। उसकी ग्रीवा दायीं ओर झुकी हुई है। नर्तकी एक निश्चित ताल एवं लय में नृत्य कर रही है। उसके स्तनों पर लम्बा उत्तरीय बंधा हुआ है एवं कटि पर झीना अधोवस्त्र धारण किये है, जिस पर किंकणियों की झालर लटक रही है। कानों में झूमरदार कर्णाभरण एवं हाथों में कुहनी तक चूड़ियाँ धारण किये है। नर्तकी की ही पंक्ति में दो वादक-स्त्रियाँ अवस्थित हैं। दायीं ओर की वादिका बायलिन के सदृश वाद्य-यंत्र बजा रही है एवं बायीं ओर की वादिका 'समुद्रगुप्त की मुद्रा' में अंकित वीणा के सदृश वाद्य-यंत्र बजा रही है। इनके कुछ ऊपर ही दो वादिकायें बैठी हैं जिसमें से एक बाँसुरी बजा रही है एवं दूसरी ढपली बजा रही है। सबसे ऊपर पार्श्व में चार स्त्रियाँ अवस्थित हैं, जिनमें से एक-दो मृदंग बजा रही हैं, उनके समीप बैठी एक अन्य स्त्री मात्र गायन कर रही है। इन सबमें प्रमुख एक स्त्री मंजीरा बजा रही है, जो कि सम्पूर्ण नृत्य-संगीत-समारोह की संचालिका प्रतीत होती है। एक अन्य स्त्री

हाथ में कमल या पंखा लिये सम्पूर्ण समूह का निरीक्षण कर रही है। सम्पूर्ण समूह की रचना काफी महत्वपूर्ण है। तन्तुयुक्त वाद्य-यंत्र सबसे सामने स्थित है और ऐंठे हुए वाद्य-यंत्र बाद में हैं। सबसे अन्त में प्रमुख लय और ठोककर बजाने वाले यंत्र हैं। यहाँ पर भरत नाट्यम के सदृश ही वादक बैठे हुये हैं।[1]

वादक स्त्रियाँ पृथक-पृथक पीठिका पर भिन्न-भिन्न मुद्रा में बैठी हुई हैं। इनकी केशसज्जा भिन्न-भिन्न प्रकार की है। अधिकाँश स्त्रियों की केशसज्जा दो भागों में विभक्त है, जो कि बहुत ही आकर्षक है। उनकी मुखभंगिमा ऐसी प्रतीत होती है जैसे वे गायन एवं वादन में पूर्णतया तल्लीन हैं। बीच में दीपक जल रहा है। सम्पूर्ण दृश्य बहुत ही स्वाभाविक एवं कलात्मक है। स्त्रियों की समानुपातिक देहयष्टि और भंगिमा, सुनियोजित अलंकरण, सुन्दर केशसज्जा एवं मुख पर प्रदीप्त सहज-स्वाभाविक सौन्दर्य गुप्तकलाकार की प्रवीणता को दर्शाता है।

तोरण के पृष्ठ भाग में षडानन कार्तिकेय एवं पौराणिक कथानक—समुद्र-मंथन को अंकित किया गया है। षडानन कार्तिकेय समभंगमुद्रा में अवस्थित हैं। उनके छ: मुख एवं द्वादश भुजायें हैं। कार्तिकेय की यह प्रतिमा उत्तर भारत की प्रारम्भिक कार्तिकेय की प्रतिमाओं का प्रतिनिधित्व करती है।[2] कार्तिकेय के सिर पर सर्पों का घटाटोप है, यह लक्षण उत्तर भारत में कार्तिकेय की किसी अन्य प्रतिमा में नहीं मिलता है। कार्तिकेय की प्रसारित भुजाओं में कोई-भी लाञ्छन नहीं है।

तोरण के इसी भाग में दूसरी ओर (कार्तिकेय के समीप में ही) समुद्र-मंथन का वृत्तान्त दर्शाया गया है। पुराणों के अनुसार अमृतप्राप्ति-हेतु देवों एवं दैत्यों ने समुद्रमंथन किया था, जिसमें विष्णु ने कच्छपरूप धारण करके अपने पृष्ठ पर मन्दराचल पर्वत धारण किया था। मरुपर्वत की मथानी एवं वासुकि नाग की नेती को पुरुषविग्रह में चार देव खींच रहे हैं। ऊपर ब्रह्मा, विष्णु एवं सूर्य अंकित हैं। समुद्र-मंथन के द्वारा निकाला अमृतघट लिये वैद्यराज धन्वंतरि, देवी लक्ष्मी, उच्चैश्रवा अश्व समीप ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सम्पूर्ण वृत्तान्त समुद्रमंथन के पौराणिक कथानक को चरितार्थ कर रहा है।

पवाया का यह तोरण पुराणों में वर्णित वैष्णव-आख्यानों को उत्कृष्ट रूप में दर्शाता है। इसकी तुलना एरण, देवगढ़, मण्डोर आदि स्थानों के 'पैनल' से कर सकते हैं। पवाया के नागों की कला के प्रचलित अलंकरणों एवं अभिप्रायों को गुप्तकलाकार ने इसमें अपनाया है और अपने सुसंस्कृत-मस्तिष्क से इसमें अभिवृद्धि की है। कलाकार ने पौराणिक-आख्यानों के अतिरिक्त उन्नत प्रसाधन-कला एवं सुरुचिपूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब तोरण में अंकित किया है।*

1. Vatsyayan, Kapila, 'Classical Indian dance in literature and the arts,' New Delhi, 1968. P. 348.
2. Sinha, Kanchan, 'Karttikeya in Indian art and literature', P. 120.

जनकवि नागार्जुन का रचना-संसार

समीरवरण नन्दी
हिन्दी–प्राध्यापक,
गुरुकुल महाविद्यालय
ज्वालापुर (हरिद्वार)

नागार्जुन आज़ाद भारत के जनकवि हैं। उन्होंने स्वयं को तरल आवेगों-वाला अति भावुक, हृदयधर्मी जनकवि कहा है। कहते हैं—

> जनता मुझसे पूछ रही है,
> क्या बतलाऊँ।
> जनकवि हूँ, मैं साफ कहूँगा,
> क्यों हकलाऊँ?
> जनकवि हूँ मैं, क्यों चाटूँ मैं थूक तुम्हारी।
> श्रमिकों पर क्यों चलने दूँ बन्दूक तुम्हारी?

रूसी महान् साहित्यकार गोर्की मखीम उनके प्रिय लेखक हैं। उन्हीं की तरह घुमक्कड हैं।

> वाघ्यतामूलक घुमक्कडी ने भर दिया था रग-रग में कडवापन
> तभी तो दे गये हो तिक्ततम अनुभूतियों का रसायन।
> मात है करेला, मात है नीम ! गोर्की मखीम।

और स्वयं नागार्जुन ?

इसी आधार पर नागार्जुन कहते हैं—

> प्रतिहिंसा हो स्थायी भाव है मेरे कवि का।
> जन-जन में जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्‌गाता हूँ उस रवि का।

यह वह आक्रोश है जो नागार्जुन को जनकवि बनाता है।

इसो प्रतिहिंसा में उन्होंने, हिंसा की छत्रछाया में सुरक्षित, अहिंसा को पाया। उन्होंने ये सब जनता की जमीन और जेहन पर स्थिर रहकर ही किया है। उनकी रचनायें जिस जनता को संबोधित और समर्पित हैं अथवा जिस

जनता की चित्रवृत्तियों की वह प्रतिमूर्ति हैं, वह मध्यमवर्ग से लेकर निचले-से-निचले तबकों तक फैली हुई है। उसमें देश का बहुसंख्यक अशिक्षित और पिछड़ा हुआ समाज भी है, और वे लोग भी, जो अपेक्षाकृत सुशिक्षित और सुसंस्कृत हैं। जो बात देखने की है वह यह कि नागार्जुन जिस जमीन पर खड़े होकर व्यापक जनसमाज को संबोधित करते हैं अथवा उसका चित्रण करते हैं, वह देश के साधारणजन की अपनी जमीन है, उसकी अपनी मानसिकता है। नागार्जुन मिसाल हैं एक ऐसे जनवादी रचनाकार की, जो अपने को पूरी तरह 'डीक्लास' कर चुके हैं, जो देश के करोड़ों-करोड़ों साधारणजनों की भाँति ही सोचते और आचरण करते हैं, साथ ही जो इतने विवेकशील भी हैं कि साधारण-जनों की सोच में परम्परा से चली आ रही जीवनप्रक्रिया के फलस्वरूप जो असंगतियाँ, संस्कारबद्धता एवं प्रतिगामिता आ गई है, उनके प्रति पूरी तरह चौकस और आलोचनात्मक हैं। नागार्जुन देश की साधारण जनता की प्रगति-कामी ऊर्जास्वित और प्राणमयी चेतना से पूरी तरह एकात्मक करने वाले उसके प्रतिनिधि रचनाकार हैं। उनकी सर्जना साधारणजनों के जीवन से रस लेती है, प्राणशक्ति अर्जित करती है, किन्तु साधारणजन को शिक्षित भी करती है, उसकी कमजोरियों पर उंगली रखती है, उसे माँजती, निखारती भी है। प्रेमचन्द की सर्जना जिस प्रकार कथा-साहित्य के क्षेत्र में जनवादी रचनाशीलता की एक मिसाल है, कविता के क्षेत्र में नागार्जुन की सर्जना को वैसी ही मिसाल माना जा सकता है। प्रेमचन्द के पाठकों का समाज जिस प्रकार, अथवा प्रेमचन्द को समझने वालों का समाज जिस प्रकार बहुत पढ़े हुओं से लेकर कम पढ़े हुए, यहाँ तक कि अशिक्षित मानी जाने वाली जनता तक फैला है, उसी प्रकार नागार्जुन के पाठक और श्रोता भी पंडितों से लेकर कुली-मजुरी करने वालों तक फैले हुए हैं और यही नहीं वे उनकी कविता से हरकत में भी आते हैं, उस पर बातचीत और बहस करते हैं, उसे अपने बीच की और अपने में से उगी हुई रचना की तरह लेते हैं। जनवादी विषयवस्तु के साथ कलात्मक परिष्कृति में जिस प्रकार प्रेमचन्द की सर्जना एक उदाहरण है, उसी प्रकार नागार्जुन की भी। नागार्जुन की व्यंजनाएँ तथाकथित शिक्षित लोग समझने में भले चूक जाएँ, साधारणजन इस कारण उन्हें समझ लेता है कि वे उसकी अपनी जिन्दगी से जुड़ी व्यंजनाएँ हैं, उसके मुहावरे उसके अपने हैं, उनकी अन्तर्वस्तु से उसका अपना नज़दीक का रिश्ता है। यह बात नागार्जुन की राजनीतिक तेवरवाली रचनाओं के लिए ही सच नहीं है, यह उनकी उन रचनाओं पर भी पूरी तरह लागू होती है जो राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों से अलग, सीधे मनुष्य की गहन अनुभूतियों से जुड़ती हैं, जिनमें शृंगार, वात्सल्य, दाम्पत्य या कि मानवीय करुणा को उसके समूचे वृत्त में उभारा गया है। इनमें वे कविताएँ भी हैं जो धरती और धरती के कोटि-कोटि सामान्यजनों के प्रति कवि के निश्छल तथा आत्मीय लगाव को मूर्त्त करती हैं, प्रकृति की नाना भंगिमाओं से सम्बन्ध रखती

हैं और सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था के नरक को समूचे यथार्थ में उद्घाटित करती हैं। नागार्जुन की इन सारी रचनाओं में हर प्रकार के पाठक तथा श्रोता-वर्ग की शिरकत है। सम्प्रेषणीयता की जो समस्या हमारे तमाम आधुनिकतावादियों को हलकान किए हुए है, प्रेमचन्द या कि नागार्जुन के यहाँ वह कोई समस्या नहीं है। इन आधुनिकतावादियों पर उन्होंने व्यंग्य कसा है। 'वे और तुम' कविता में—

> वे लोहा पीट रहे हैं, तुम मन को पीट रहे हो।
> वे पत्थर जोड़ रहे हैं, तुम सपने जोड़ रहे हो।
> उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है, और तुम्हारी
> घुटन उनींदी घड़ियों में चुरती है।
> वे हुलसित हैं,
> अपनी ही फसलों में डूब गए हैं।
> तुम हुलसित हो,
> चितकबरी चाँदनियों में खोए हो।
> उनको दुःख है,
> नए आम की मंजरियों को पाला मार गया है।
> तुमको,
> दुःख है काव्य-संकलन दीमक चाट गए हैं।

वे, अर्थात् इस धरती की श्रमरत जनता और तुम अर्थात् उसका एक अंग होते हुए भी अपनी निजता में बद्ध, अपनी विशिष्टता के अहं में उससे अलग-थलग पड़े रचनाकार बुद्धिजीवी ! साधारण श्रमरतजन और उससे कटे हुए लोगों की मानसिकता यहाँ एक स्तर पर समूची सफाई के साथ, किन्तु दूसरे स्तर पर व्यंग्य की पैनी धार से गुजर गई है। सारे प्रगतिशील आलोचक व्यंग्य को कविता की धार मानते हैं। भारतेन्दु और उनके काल के लेखकों के बाद एकमात्र 'निराला' में यह व्यंग्य प्रमुखरूप में चित्रित हुआ है। आज़ाद भारत के सारे साहित्य में इसकी कमी नज़र आती है। पर नागार्जुन की वर्गसंघर्ष की धारणा और उनकी प्रतिहिंसा की भावना इसी व्यंग्य के रूप में ही प्रकट हुई है। डा० नामवरसिंह नागार्जुन को कबीर के बाद सबसे बड़ा दूसरा व्यंग्यकार मानते हैं। नागार्जुन एक कविता में स्वयं स्वीकारते हैं :

> 'हमने कबीर का पद ही घोखा है'

शासकवर्ग का कोई भी तबका इस व्यंग्य की मार से बच नहीं पाया है। नागार्जुन के यहाँ व्यंग्य के विषय ही विविध नहीं हैं, व्यंग्य के काव्यरूप भी विविध हैं। उनके ये व्यंग्य भारतीय जनता की प्रखर राजनीतिकचेतना के साथ ही, उसके सहजबोध और ज़िन्दादिली के भी अचूक प्रमाण हैं। इसमें भी

सबसे महत्वपूर्ण हैं, लोकधुन पर रची गयी कविता— 'तीनों बन्दर बापू के'। बापू के भी ताऊ निकले तीनों बन्दर बापू के'। दूसरा है— 'भूदान' आन्दोलन के समय लिखा गया 'हर गंगे' टेक वाला गीत—

ऊसर बंजर और श्मशान।
संत विनोबा पावै दान···हर गंगे।

उसी क्रम में सन् ५४ के लिखे उस झण्डागीत का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिसकी टेक है—

दस हज़ार, दस लाख मरे, पर झण्डा ऊँचा रहे हमारा।
कुछ हो कांग्रेसी शासन का डण्डा ऊँचा रहे हमारा।

पूंजीवादी शासनव्यवस्था के जनप्रतिनिधियों का व्यंग्यचित्र नौटंकी की परिचित धुन और शब्दावली में इस प्रकार खींचा गया है—

स्वेत स्याम रतनार अंखिया निहारके
सिण्डकेट प्रभुओं की पगधूर झारके
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मारके
खिले हैं दाने ज्यों अनार के
आये दिन बहार के।

राजनीतिज्ञों के साथ-साथ नागार्जुन के व्यंग्य के लक्ष्य सामन्ती-पुरहिती अवशेषों के अलावा, नये उभरते हुए पूँजीपतिवर्ग के लोग भी हैं, जिनके चक्कर में कभी-कभी बुद्धिजीवी भी आ जाते हैं। ऐसे ही हैं एक प्राध्यापक-मित्र जो इस बात पर मगन हैं कि मुलुण्ड में एक व्यवसायी ने सौरभ-द्रव्यों का एक नया उत्पादनकेन्द्र आरम्भ किया है, जिससे इर्द-गिर्द बीसियों किलोमीटर हो उठते हैं मुअत्तर! उन्हें कवि पर झुंझलाहट है कि आपकी गन्ध-चेतना ठस तो नहीं हुई? अन्त में उन्होंने स्वयं ही 'नथुने फुला-फुला के वो मुअत्तर हवा भरली अन्दर'। इसी तरह कहीं बतर्ज 'गज़ल' पैसा चहक रहा है, कहीं शादी के नाम पर वैभव का उन्मत्त प्रदर्शन हो रहा है, जहाँ कवियों की चिकनी वाणी में दूर्वादल हिलते हैं। नागार्जुन को इस भद्रवर्ग के धन-वैभव से अधिक खीज उसके संस्कृति-प्रेम के ढोंग पर है, जिसका चुभता चित्र है— "प्लीज एक्सक्यूज मी···" कविता में।

नागार्जुन के शब्दों में दरअसल वे 'पढ़ुआ खाऊ और तिकड़म के ताऊ' हैं। इस पंक्ति में वे आधुनिकतावादी कवि भी हैं 'जो पढ़ते हैं एजरा-पाउण्ड-इलियट। बाकी सबको समझते हैं इडियट।' इनमें कुछ निम्न मध्यवर्ग के हैं जिनके बारे में नागार्जुन थोड़ी सहानुभूति के साथ पंक्ति जोड़ते हैं।

नाम है भारी आमदनी हलकी ।
चिन्ता है कलकी ।

इसी व्यंग्य के चलते आधुनिकतावाद से साफ़-साफ अछूते रहकर भी वे आधुनिक हो सके ।

यहाँ मैं नागार्जुन को उन कविताओं का जिक्र नहीं कर रहा हूँ जो ठेठ आज के सन्दर्भों में, आज की राजनीति और आज की सत्ता के प्रभुओं की खाल उतारती है । इनमें आपात्काल से सम्बंधित तमाम रचनाएँ तथा 'इन्दु जी' को सम्बोधित कविताओं के अलावा वे सारी रचनाएँ शामिल हैं जो नागार्जुन अपने रचनाशक्तिजीवन के प्रारम्भ से ही लिखते आ रहे हैं और जिन्हें वे ठेठ जनता के बीच खड़े होकर उनके साथ मिल-जुल कर पढ़ते और सुनाते हैं । मैं यहाँ उनकी उन रचनाओं को रेखांकित करना चाहता हूँ जो समसामयिक सन्दर्भों से अलग कविता को उन शर्तों के साथ ग्रहण करती हैं जिनके अभाव में आज की प्रगतिशील रचना-कर्म पर आरोप लगाया जाता है तथा मनुष्य की संवेदना को भीतर तक छूने और उभारने वाली कविताएँ हैं और इन कविताओं में भी नागार्जुन की रचनाशीलता का जनवादी चरित्र वैसे ही निखरा हुआ है, जैसे कि उनकी दीगर कविताओं में, जो ठेठ आज के जनसंघर्षों और आन्दोलनों से सम्बन्धित हैं । उनकी एक प्रकृति-कविता है—

"अबकी इस मौसम में कोयल आज बोली है पहली बार"

तथा उनकी प्रणय-कविता है—

"कर गई चाक तिमिर का सीना जोत की फांक, यह तुम थी"

इस प्रकार की पचासों कविताएँ हैं जो अपनी कलात्मक परिष्कृति तथा अपनी संवेदनात्मक बनावट में आज के किसी भी कवि की रचनाशीलता से बेजोड़ हैं । फिर भी इनके बिम्ब, भाषा, इनका एक-एक रंगरेशा आम जनता के जीवन से इतना नज़दीक से जुड़ा है कि ये जनता के किसी भी तबके के समक्ष अपनी समग्र संवेदना तथा प्रभाव के साथ ग्राह्य हैं । 'अकाल और उसके बाद' विश्व-विख्यात कविता में उसकी बुनावट में कुछ भी ऐसा नहीं जो अलग से विशिष्ट दिखाई दे । यही नागार्जुन का जनवादी चरित्र है जिसे बहुत साधना से प्राप्त किया गया है । इसके लिए कवि को जनता के जीवन में गहरे धंसना पड़ा है । अपने मन पर चढ़े संस्कारों को निर्मम होकर उधेड़ना पड़ा है । अपने को मनप्राणों से व्यापक जनता के साथ घुला देना पड़ा है । जनता के जीवन के साथ नागार्जुन के रचनाकार का यह जो एकात्म है, उनकी रचना-ताजगी का यह सबसे प्रधान कारण भी है । नागार्जुन के रचनाकार तथा उनकी रचना में जो अद्भुत ताजगी है, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण युवाओं से युवा उनका रचनाकार-मानस है । वे समय की गतिविधि के सजग सृष्टा हैं, तथा समय की यह प्रगतिशील उठान

की अगवानी करने में अगुआ हैं। जन-उभार को देखकर वे बच्चों की तरह उत्साहित हो उठते हैं। गो कि नागार्जुन भावुक नहीं हैं, उनके पास परिपक्व राजनीतिक विवेक है, फिर भी जनता उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है। इसी कमजोरी को कई बार अवसरवादी राजनीति ने उनसे भुनाया है, उनकी राजनीतिक समझदारी पर उंगली उठाई गई है। नागार्जुन का बड़प्पन है कि दूसरों से अधिक उन्होंने स्वतः अपनी आलोचना की है और ठोकर खाकर वे पुनः बेहतर भविष्य के लिए संघर्षरतजन के साथ दुगुने संकल्प से खड़े हो गये हैं।

बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह उत्सवधर्मिता जनकवि नागार्जुन की वर्ग-चेतना का ही एक अंग है। यदि इस सौन्दर्यबोध में किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं है तो इसलिए कि नागार्जुन का वर्ग-चेतना का आधार कोई अमूर्त्त विचारप्रणाली या राजनीति का फौरी कार्यक्रम नहीं, बल्कि ठेठ जन-जीवन है। लेनिन की तरह नागार्जुन के लिए भी 'सत्य ठोस है' जीवन की छोटी-छोटी घटना में व्यक्त, आसपास हर चीज में मूर्त्त और इन सबके बीच स्वयं जनगण के क्रिया-कलाप में उत्साहित और जीवन्त। जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—

> कवि हूँ, सच है,
> किन्तु क्षणिक तथ्यों को यों अवहेलित करके,
> शाश्वत का सीमान्त कभी क्या छू पाऊँगा ?

इसलिए अपने ठोस यथार्थबोध के कारण नागार्जुन, विचार-प्रणाली के फीते से हर कविता को नापने वाले आलोचकों को फेर में डाल देते हैं और उन्हें नागार्जुन अनेक असंगतियों के पुञ्ज लगते हैं। इतना ही नहीं—

> मन करता है,
> नंगा होकर मैं खड़ा रहूँ, सागर के तट पर।
> यों भी क्या कपड़ा मिलता है ?

जैसी कविता से उन्हें अराजकतावादी मानने लगते हैं। इसमें अराजकतावादी विद्रोह का आभास तो मिलता है, पर गौर से देखें तो इस पागलपन में एक पद्धति है। इसी आत्मविश्वास के साथ वे एक ही सांस में कहते हैं—

> प्रतिबद्ध हूँ, सम्बद्ध हूँ, आबद्ध हूँ।

प्रतिबद्ध—अपने आपको भी व्यामोह से बारम्बार उबारने की खातिर।
सम्बद्ध—सबसे और किसी से नहीं। और जाने किस-किस से।
आबद्ध—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से, शब्द से, नाद से, ध्वनि से, स्वर से,
इंगित आकृति से······ सच से, झूठ से, दोनों की मिलावट से··········
विधि से, निषेध से··········।

इस प्रकार नागार्जुन का काव्य इस धारणा का जैसे प्रत्याख्यान है कि कविता विचारों से ही लिखी जाती है। **

गुरु का स्वरूप

—आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री
रीडर, संस्कृत विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

गुरु शब्द का श्रवण होते ही एक अद्भुत, विलक्षण, वैदुष्य से ओत-प्रोत, तपःपूत, निष्ठावान्, दिव्यगुणों से परिपूर्ण, तथा क्षणे-क्षणे अभिनव रूप में दर्शनीय व्यक्तित्व चक्षुगोचर होने लगता है, जिसका ध्यान होते ही मानव-मन में सहज श्रद्धा का भाव प्रोद्भूत होकर उसको नम्र, शिष्ट, शालीन तथा अनुशासित होने की प्रेरणा करने लगता है। गुरु शब्द आकार में जितना अल्प है उतना ही आर्थिक दृष्टि से महान है। गुरु की गम्भीरता, गहनता, तथा महनीयता का अनुभव सभी को होता है। गुरु की निःसीम शक्ति का ध्यान करते हुए ऋषियों ने परमपिता परमात्मा को गुरु शब्द से कहा है। अतएव योगदर्शन में गुरु शब्द का प्रयोग महर्षि पतञ्जलि ने परमात्मा के लिए किया—"स हि पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" योग द० १।६। अर्थात् वह परमात्मा कालादि से अनवच्छिन्न होने के कारण पूर्व-पूर्ववर्ती ऋषियों का गुरु है। क्योंकि सृष्टि के आदि में मानव-कल्याणार्थ चार ऋषियों को परमात्मा ने ही श्रुति शब्दवाच्य वेद का ज्ञान दिया। ऋषिमन में परमात्मा द्वारा गीर्ण वेदज्ञान ही सम्पूर्ण विद्याओं से परिपूर्ण है। मानवहित की दृष्टि से मानव-मस्तिष्क में उद्भिन्न प्रत्येक सत्यविद्या का मूलस्रोत परमात्मप्रदत्त वेदज्ञान ही है। अतः परमात्मा को ही सर्वप्रथम गुरु शब्द से व्यवहृत किया गया है। गुरु शब्द की निष्पन्नता "गृ-शब्दे" से हुई है। कुछ विद्वानों ने गृ-निगरणे से भी गुरु शब्द निष्पन्न माना है तथा दोनों धातुओं से निष्पन्न गुरु शब्द अपनी व्युत्पत्त्यात्मक एकरूपता को ही समेटे हुए है। ईश्वर के लिए प्रयुक्त गुरु शब्द की व्युत्पत्ति का प्रकार यह हो सकता है— "गिरति अज्ञानमन्तर्यामिरूपेणाविद्यां नाशयतीति गुरुः" यद्वा— "गीर्यते स्तूयते जीवनिकरैरिति गुरुः" सर्वान्तर्यामि रूप में सभी जीवों का अज्ञाननिवारक तथा ज्ञानप्रकाशकारक परमात्मा ही है। संसार के सभी जीवों का एकमात्र स्तुत्य वह देवादिदेव परमात्मा ही है। अतः प्रमुख साहित्य में जहाँ शिव, विष्णु, ब्रह्मा एवं बृहस्पति आदि के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ वह एकमात्र सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, अजर, अमर, अभय, नित्य, सर्वान्तर्यामि परमात्मा का ही वाचक है।

परमात्मा के वेदज्ञान को विभिन्न प्रकार से प्रचारित एवं प्रसारित करने वाला ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण तपःपूत होकर मनस्विता, वर्चस्विता तथा तेजस्विता में अग्रगण्य होकर जब समाज में अपने दिव्यगुणों के कारण प्रतिष्ठित हो गया तब उसको गुरु शब्द से सम्मानपूर्वक व्यवहृत किया जाने लगा। क्योंकि ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का प्रमुख कार्य वेदादि का सदुपदेश कर, मानव-समाज को अविद्या से दूर कर, विद्या में प्रवृत्त करना ही माना जाता है। उक्त गुणों से युक्त विद्यावान् उपदेष्टा को गुरु कहते हुए निम्न व्युत्पत्ति की जा सकती है— "गृणाति उपदिशति वेद-शास्त्राणि यद्वा गीर्यते स्तूयते शिष्य वर्गैरिति गुरुः"।

महाराज मनु ने गुरु के स्वरूप को एक विशिष्ट शब्दावली के साथ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार विशेषप्रक्रिया को जीवन में अपनाने वाले व्यक्ति को गुरु कहा गया है–

यथा— निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सभाजयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ मनु० २।१४२

अर्थात् जो निषेकादि (गर्भाधानादि) संस्कारों को यथाविधि करता है तथा अन्नादि की व्यवस्था से परिपुष्ट करता है वह विप्र गुरु कहा जाता है। आचार्य कुल्लूक भट्ट ने यहाँ पिता को गुरु रूप में स्वीकृत किया है। उन्होंने विधिपूर्वक निषेकादिसंस्कार का कर्त्ता पिता को स्वीकार किया है, जैसा कि उनकी टीका से स्पष्ट है— "निषेको गर्भाधानं तेन पितुरय गुरुत्वोपदेशः, गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथा— शास्त्रं यः करोति अन्नेन च संवर्धयति स विप्रो गुरुरुच्यते।"

महाराज मनु ने वेदों के अध्यापयिता आचार्य को गुरु शब्द से बोधित करके सम्मानित किया है क्योंकि "गृणाति उपदिशति वेदान्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेदों का विधिवत् उपदेश का कर्त्ता गुरु होता है। आचार्य यथाविधि वेदोपवेद का सर्वाङ्ग अध्ययन करके पुनः विद्यार्थी को वेदज्ञान प्रदान करता है। अतएव मनु ने आचार्य के चरणों में उपतिष्ठ होकर वेदाध्ययनकर्त्ता के विषय में कहा है—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तर्दाधकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ मनु० ३।१।

इस प्रकार आचार्य से वेदाध्ययन करके आचार्य (गुरु) की आज्ञा से ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार ब्रह्मचारी को दिया गया है। यथा—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्‌वहेत् द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ मनु० ३।४।

इस प्रकार मनु जी ने सर्वाङ्ग वेदाभ्यास कराने वाले आचार्य के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया है। संसार में देखा जाता है कि जो समग्र वेदों का अध्यापन तो नहीं कराता किन्तु एकदेशीय वेदज्ञान को प्रदान करता हुआ, शिष्य की ज्ञान-वृद्धि करता हुआ, मार्ग-निर्देशन कराता है, वह भी गुरु पद को प्राप्त करता है। अतएव क्वचित् गुरु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी द्रष्टव्य है—"गृणाति उपदिशति किञ्चिदपि यः सोऽपि गुरुरेव"। मनु जी ने इस व्युत्पत्ति के औचित्य का निर्वाह करते हुए स्वयं स्वीकार किया है कि अल्पता में भी विद्यादान का कर्त्ता गुरुपद से व्यवहर्त्तव्य है। यथा—

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ मनु० २।१४९।

संसार में प्रायः देखा जाता है कि समय-समय पर कुछ ऐसी दिव्य विभूतियों के दर्शन होते हैं जिनका व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है तथा जो अपने सदाचार, तपस्या, एवं निष्ठा से परिपूर्ण जीवन को अन्तर्मुखी वृत्ति के साथ जीते हुए, निरन्तर वेद एवं शास्त्रों के अभ्यास में रत रहते हैं। इस प्रकार के श्रद्धेय व्यक्तित्व के लिए भी गुरु शब्द का प्रयोग किया जाता है। संसार के समस्त साधु, सन्त, महात्मा, तपस्वी गुरुपद वाच्य हैं, इसकी पुष्टि निम्न व्युत्पत्ति के अनुसार हो जाती है "गीर्यते स्तूयतेऽसौ ज्ञानतपोवृद्धत्वात्" अर्थात् जो ज्ञानवृद्ध तथा तपोवृद्ध है वह गुरु स्थानीय है। अतएव कहा है कि "ज्ञानप्रभावान्विततत्वात् तपोबल प्राधान्याद्वा पूज्यतमो महात्मा गुरुरुच्यते।" अर्थात् जो व्यक्ति समाज में नैतिक-मूल्यों के प्रति जागरूक होकर मानव-समाज को शुद्ध बिचार देता है, ईश्वर के प्रति विश्वास को जगाता है, आचार-विचार की पवित्रता का उपदेश करता है, उसको भी गुरु-सम्मान से सम्मानित करना कर्त्तव्य माना गया है। क्योंकि "गृणाति उपनीय संध्योपासनाचारादीनि कर्माणि उपदिशति इति गुरुः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्माचरण की ओर प्रवृत्त करने वाले उपदेष्टा को अथवा मन्त्रदाता को गुरु कहा जाता है। अतएव मनु ने भी इसी आशय को इस प्रकार व्यक्त किया है—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च ॥ मनु० २।६९।

यहाँ यह तो स्पष्ट है कि अक्षरविद्या के दाता को ही गुरु नहीं कहा जाता, अपितु शुचिता एवं आचारवादिता के प्रति निष्ठावान् व्यक्तित्व का निर्माण करने वाला गुरु कहा जाता है। लोक-परम्परा के अनुसार कुछ व्यक्ति

आचार्य, उपाध्याय, एवं अध्यापक के अतिरिक्त एक स्थान पर आसीन, साधनालीन व्यक्ति को भी गुरु रूप में स्वीकार करते हैं तथा सुखात्मक एवं दुःखात्मक स्थिति में उससे विचार-विमर्श करके सत्त्वप्रधानवृत्ति के धनी होकर आत्मतोष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उपागत व्यक्ति के मनस्ताप का हरण कर आह्लादमयी स्थिति को उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के लिए मन्त्रद गुरु का प्रयोग किया है। मन्त्रद गुरु का सत्यस्वरूप तो वास्तव में कल्याणकारी है तथा सर्वतोभद्र है किन्तु प्रायः देखा जाता है कि अधुनातनक्रम में मन्त्रद गुरु के विषय में जनसमूह भ्रांत हो जाता है तथा अनेक प्रकार से वञ्चक मन्त्रद गुरु की सन्निधि प्राप्त कर अज्ञानवश कुपथगामी हो जाता है। अतः मन्त्रद गुरु का चयन एवं वरण अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिए। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में मन्त्रद गुरु के कुछ विशेष गुण व्याख्यात किए गए हैं जिनके आधार पर मन्त्रद गुरु की परीक्षा की जा सकती है, वे गुण निम्न हैं—

शान्तोदान्तो कुलीनश्च विनीतः शुद्ध वेशवान्।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान्॥
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मन्त्रतन्त्र विशारदः।
निग्रहानुग्रहेशक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥
उद्धर्तुं चैव संहर्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तमः।
तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते॥ युक्तिकल्पतरु।

यह सत्य है कि गुरु ज्योतिपुञ्ज के रूप में स्वीकार्य है क्योंकि पथभ्रष्ट व्यक्ति को गुरुमुख से निःसृत शब्दज्योति ही प्रकाशदीपिका बनकर, उसके जोवनपथ को आलोकित करती है। अतः मानव-जीवन के साथ गुरु का सम्बन्ध अपरिहेय है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि कोई कितव शठवृत्ति का आश्रय लेकर गुरुपद की गरिमा को नष्ट न करे, इसके लिए विशेष उत्तरदायित्व राजव्यवस्था का है। अतः राजा को चाहिए कि वह निर्दिष्ट-विशिष्ट गुणों से युक्त व्यक्ति को स्वयं समर्चित करे तथा प्रजा को भी ऐसे ही दिव्यगुणों से युक्त व्यक्ति को गुरु रूप में मानने का आदेश दे। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में वरणीय गुरु के विशेष गुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सदाचारः कुशलधी सर्वशास्त्रार्थ पारंगः।
नित्यनैमित्तिकानां च कार्याणांकारकः शुचिः॥
अपर्व मैथुनपरः पितृदेवार्चनेरतः।
गुरुमन्त्रोजितक्रोधो विप्राणां हितकृत सदा॥
दयावान् शीलसम्पन्नः सत्कुलीनो महामतिः।
परदारेषु विमुखो दृढ़संकल्पो द्विजः॥
अन्यैश्च वैदिक गणैर्युक्तः कार्यो गुरुर्नृपैः। युक्तिकल्पतरु।

इस प्रकार जहाँ गुरु के स्तुत्यस्वरूप का वर्णन करके उसको वरणीय कहा है, वहीं ग्रन्थों में उन दोषों का भी वर्णन किया गया है जिनके कारण गुरु वर्जनीय हो जाता है। वे दोष ये हैं—

अभिशप्तमपुत्रञ्च सन्नध्यं कितवं तथा।
क्रियाहीनं कल्पाङ्गं वामनं गुरु निन्दकम्॥
सदा मत्सर संयुक्तं गुरुं मन्त्रेषु वर्जयेत्।
गुरुर्मन्त्रस्य मूलं स्यात् मूल शुद्धौ सदा शुभम्॥ कालिकापुराण।५४।

इस प्रकार भारतीय ग्रन्थों में जहाँ विद्यादाता, उपाध्याय, आचार्य, महात्मा, उपदेष्टा, साधनालीन संन्यासी को गुरु कहा गया है, वहीं पारिवारिक ज्येष्ठ-जनों के प्रति भी गुरुपद का प्रयोग किया गया है। पितृपक्ष के तथा मातृपक्ष के किस २ व्यक्ति को गुरुपद से अलंकृत किया जाए, इसका हमें स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। कूर्मपुराण में कौन-कौन व्यक्ति गुरु होते हैं, उसका वर्णन इस प्रकार है-

उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः।
मातुलः श्वशुरस्त्राता मातामह पितामहौ॥
बन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवःस्मृताः॥
मातामही मातुलानी तथा मातुश्च सोदरा॥
श्वश्रूः पितामही ज्येष्ठाधात्री च गुरवः स्त्रिषु।
इत्युक्तो गुरुवर्गोऽयं मातृतः पितृतो द्विजाः॥ कूर्मपुराण उपवि० अ०।१४।

महाकवि कालिदास ने उक्त मान्यता के आधार पर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक में शकुन्तला को स्वपतिगृह प्रेषित करते समय "शुश्रूष स्व-स्वगुरून्" कह, माता-पिता तथा कुल के सभी ज्येष्ठ व्यक्तियों के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया है। राजा के लिए भी कालिदास ने गुरु शब्द का प्रयोग किया है, जैसे—

"तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं,
गुरु नृपाणां गुरवे निवेद्य।" रघु० २।६६।

इसी प्रकार विद्यादान करने वाले ऋषि के प्रति कालिदास ने ससम्मान गुरु शब्द का प्रयोग किया है। रघुवंश के पंचम सर्ग में जब वरतन्तु ऋषि का शिष्य कौत्स राजा रघु के समीप आता है तो सर्वप्रथम राजा उसके गुरु का कुशल जानने की इच्छा से इस प्रकार कहता है—

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां।
कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते॥
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं।
लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः॥ रघु०।५।४।

कालिदास ने कुल-पुरोहित के लिए स्पष्ट गुरु शब्द का प्रयोग किया है। राजा दिलीप के द्वारा वशिष्ठ की सेवा का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ।
समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः॥ रघु० ।२।३।

इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय में गुरु शब्द का बहुलता में प्रयोग देखकर यह कहा जा सकता है कि गुरु का अर्थ समाज में अत्यन्त व्यापक रहा है तथा यह भी सत्य है कि उसकी व्यापकता का आधार ज्ञानवृत्ति ही रही है। चाहे सम्बन्धों की ज्येष्ठता के आधार पर हमने किसी को गुरु कहा हो अथवा विद्या से किसी भी प्रकार सम्बन्ध रखकर, समाज का कल्याण करने वाले विद्वज्जन को गुरुपद से व्यपदिष्ट किया हो, सभी में गुरुता का कारण उपदेशवृत्ति ही रही है। अतः न केवल चेतन जगत में ही गुरु शब्द की व्यापकता है, अपितु अचेतन जगत में भी। यदि किसी ने वन, नदी, पर्वत, चन्द्रोदय या सूर्योदय को देखकर किसी प्रकार की ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का उन्मेष होते देखा है, तो वह भी निःसन्देह गुरुपद वाच्य हो गया है, क्योंकि व्यक्ति को कहीं से भी बोध हो सकता है। अतएव किसी ने कहा है—

"कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्"।

वेद के ऋषि ने भी सम्भवतः इसी भावना के साथ—

"उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥" यजु० ।२६।१५।

इस मन्त्र को कहकर बुद्धिमान्, मनस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण होने का संदेश दिया है। यह समस्त संसार शब्दमय है। शब्द के प्रकाश में ही यह प्रकाशित है, शब्द ही ज्योति है, ज्योति ही जीवन है। अतः शब्द का अनाहत नाद जहाँ से उठता हो वही गुरु है, उस अनाहत नाद को नादित करने वाला प्रत्येक प्रेरक गुरु है।

मुक्ति से पुनरावर्तन

—डॉ० जयदेव वेदालंकार
रीडर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

गत अंक में महर्षि दयानन्द के मुक्ति से वापिस लौटने के सिद्धान्त की आलोचना पूर्वपक्ष के रूप में पढ़ें। इस अंक में पाठक महर्षि दयानन्द के उपर्युक्त सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर सकते हैं।

—सम्पादक

मुक्ति से जीवात्मा वापिस लौट आता है, इस विषय में प्रायः कहा जाता है कि यह मान्यता केवल महर्षि दयानन्द की अपनी ही है। यह तो हो सकता है कि इस युग में उन्होंने ही यह मान्यता हमें बतलायी हो, परन्तु उनकी अपनी मान्यता है कि उनका वही मत है जो वेदादि सत्-शास्त्रों की मान्यता है। महर्षि अपनी मान्यता को सभी स्थलों पर सबसे पहले वेदों से सिद्ध करते हैं।

मुक्ति से जीवात्मा वापिस लौट आता है, इस सिद्धान्त को पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष द्वारा यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पूर्व पक्ष— जिस प्रकार ईश्वर नित्य मुक्त है, उसी प्रकार जीव भी नित्य मुक्त हो जाये तो क्या हानि है ?

उत्तर पक्ष—ईश्वर की तो सदैव मुक्ति है। वह ससांर में कभी भी जन्म नहीं लेता है, न ही संसार में उसका कभी आना हो सकता है। जीवात्मा सदैव मुक्त नहीं है, वह बार-बार जन्म लेता है और मरता भी है। इसका निष्कर्ष यह है की जीवात्मा और परमात्मा का सामर्थ्य समान नहीं हो सकता है। अतः जीवात्मा मुक्त होने पर भी वह अनन्त सामर्थ्य वाला कभी नहीं हो सकता है। इस प्रसंग में आचार्य शंकर भी महर्षि दयानन्द के समान ही मानते हैं। उनकी

यह मान्यता, वेदान्त दर्शन के इस सूत्र पर कि "जगद् व्यापार वर्जं प्रकरणाद-सन्निहित्वाच्च" (वेदान्त ४।४।१७)।

इस पर आचार्य शंकर भाष्य में स्पष्ट कहते हैं कि "जगदुत्पत्त्यादि व्यापारं वर्जयित्वान्यदणिमाद्यैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद् व्यापारस्तु-नित्यसिद्धस्येश्वरस्य" (शांकर भाष्य)।

अर्थात् जगत् की उत्पत्ति-आदि व्यापार को छोड़कर जीवात्मा को अन्य अणिमा आदि ऐश्वर्य तो प्राप्त हो जाते हैं परन्तु विश्व की रचनादि जीवात्मा नहीं कर सकते हैं। अत: महर्षि दयानन्द स्पष्ट लिखते हैं कि—"प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं पुन: उनका फल अनन्त कैसे हो सकता है? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते हैं। जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता है"[1]।

पू० प०— मुक्ति से वापिस लौटने के सिद्धान्त का अनेक ग्रन्थ खण्डन करते प्रतीत होते हैं। क्या उनको प्रमाण न माना जाये? निम्नलिखित प्रमाणों से मुक्ति से जीवात्मा वापिस नहीं आता है, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है।

(१) न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते (छा० ८।१५)
(२) स परम पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते (छा० उ०)
(३) न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोप्य नावृत्ति श्रुते: (सांख्य ६।१७)
(४) अनावृत्ति शब्दादमा वृत्तिशब्दात् (वे० ४-४-३३)
(५) यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम (गीता-१५।६)

इत्यादि प्रमाणों के होते हुए मुक्ति से पुन: लौटने के सिद्धान्त को कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

उत्तर प०— वास्तव में इन सभी प्रमाणों के अर्थों को समझने में भ्रान्ति है। जीवात्मा अनादि काल से जन्म और मृत्यु के प्रवाह में जकड़ा हुआ है। जन्म और फिर मृत्यु यह अबाध चक्र रात और दिन की भाँति सदा से चला आ रहा है। जैसे कोई व्यक्ति प्रतिदिन हमारे पास आता है, परन्तु अचानक उसे कुछ वर्ष तक अन्यत्र जाना पड़ जाता है तो हम सामान्य व्यवहार में यही कह देते हैं कि अब वह नहीं आयेगा। क्योंकि उसके आने-जाने का बहुत दिनों का अबाध क्रम अब नहीं रहा है। वह तो दो वर्ष बाद पुन: आ जाता है। इसी प्रकार मृत्यु और जन्म के अबाध असंख्यक्रम में सृष्टि की रचना और प्रलय छत्तीस हजार बार हो, उतने लम्बे काल तक मुक्ति की अवधि में जीवात्मा

१—सत्यार्थ प्रकाश, नवम् समुल्लास

मुक्ति में रहता है। उसका जन्म और मृत्यु का अबाध क्रम इतने लम्बे काल रुक जाता है। इसलिये कहा गया है कि वह अब पुनः नहीं लौटेगा।

मुक्ति में जीवात्मा रहता ही नहीं अपितु वह ब्रह्म है, जब वह अज्ञान के दूर हो जाने पर ब्रह्म अपने स्वरूप में ही आ जाता है अर्थात् मुक्ति में जीवात्मा रहता ही नहीं है। इस सिद्धान्त के मानने वाले आचार्य शंकर भी इन श्रुतियों का अर्थ क्या करते हैं? यह यहाँ पर उल्लेख करना सापेक्ष प्रतीत होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् का यह वचन कि "ते तेषु ब्रह्म लोकेषु·········तेषां न पुनरावृत्ति" (छा० ६।२।१५)। इस पर आचार्य शंकर का भाष्य यह स्पष्ट करता है कि एक कालविशेष के बाद पुनः लौट कर आता है। यह उपर्युक्त वचन स्पष्ट कहता है कि वे मुक्त आत्मायें पुनः लौट कर नहीं आते हैं। परन्तु आचार्य शंकर का भाष्य यह है कि—संवत्सराननेकान् वसन्ति ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिः।"

अर्थात्, वह मुक्त आत्मा कल्पों तक मुक्ति में रहता है। तब तक उसका पुनरागमन नहीं होता है। आगे पुनः लिखते हैं कि यावद् ब्रह्मलोकस्थितिः तावत् तत्रैव तिष्ठति प्रकृततो नावर्तत इत्यर्थः (छा० ६।१५।१५ पर शंकर भाष्य)।

अर्थात्, ब्रह्मलोक अवस्था तक उनका पुनरागमन नहीं होता है। इतना हो इसी वचन का भाष्य करते हुये आचार्य शंकर और स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि "तस्मादस्मात् कल्पादूर्ध्वं आवृत्ति गम्यते" अर्थात् अवधि के अनन्तर वह पुनः आता है।

यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि शंकर के अनुयायी यह कह सकते हैं कि उन्होंने यह बात प्रेयमार्ग से मुक्ति में गये जीवात्माओं के विषय में कही होगी। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि उपनिषदों में यहाँ प्रसंग श्रेय और प्रेय का नहीं है। हमारा कहने का भाव यह है कि आचार्य शंकर भी किसी भी मुक्ति में गये जीवात्माओं की स्थिति एक निश्चित काल तक मानते हैं और पुनः आने की बात भी किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

महर्षि दयानन्द वेदों को स्वतः एवं परमप्रमाण स्वीकार करते हैं। अपने पक्ष में वे वेदों के मन्त्रों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं—

(१) कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम———पुनर्दातपितरं च दृश्ये मातरं च। (ऋ० १।१२४।१)

(२) अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां······(स०प्र०स० ६,८)

(३) पुनर्दात् पितरंच दृश्ये मातरं च (वही १।१२४।२) स नो मह्या आदितये पुनर्दात्———(ऋ० १।१।४२)

अर्थात् वेद में कहा है कि किसका नाम पवित्र है। कौन अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कराता है और पुनः माता-पिता के दर्शन कौन कराता है। इसका उत्तर दिया है कि वह परमात्मा ही मुक्ति दिलाता है और मुक्ति के बाद माता-पिता के दर्शन कराता है।

उपनिषदों में भी इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं कि जीवात्मा एक परान्तकाल तक ही मुक्ति में रहता है। "ते ह ब्रह्मलोके ह प्रान्तकाले परामृतात् (परामृताः) परिमुच्यन्ति सर्वे। (मुण्डकोपनिषद् एवं स०प्र० ९ समु०)

अर्थात्, जीवात्मायें मुक्ति में महाकल्प तक रहते हैं। इसकी गणना इस प्रकार की जाती है—४३ लाख २० हजार वर्षों की एक चतुर्युगी, दो हजार चतुर्युगियों का एक अहोरात्र। ऐसे तीस अहोरात्र का एक मास। ऐसे १२ महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का एक परान्तकाल होता है। (३१ नील दस खरब चालीस अरब वर्ष होते हैं) इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि यह बहुत लम्बा काल मुक्ति की अवधि का है। अनावृत्ति का अर्थ भी मुक्ति काल की अवधि पर्यन्त है।

कुछ विद्वान आपत्ति करते हैं कि जब जीवात्मा अज्ञान नष्ट होने से शुद्ध और पवित्र हो गया, तथा उसके सभी कर्मफल नष्ट हो गये, तभी मुक्ति होती है। पुनरागमन का हेतु क्या होगा? इसका बड़ा स्पष्ट उत्तर है कि जीवात्मा तो सदा ही शुद्ध और पवित्र रहता। केवल अन्तःकरण में अज्ञान होने के कारण वह अपने स्वरूप को नहीं समझता है। जब एक प्रकार जीवात्मा के कर्म या प्रयास का फल मुक्ति है तो किसी प्रयास या कर्म का फल असीम नहीं हो सकता है। अब पुनरागमन कैसे होता है, यह प्रश्न शेष रहता है। इसका उत्तर स्पष्ट है कि उसको उच्च योनि के माता-पिता के यहाँ पुनः जन्म लेना पड़ता है। जैसा लोहे का गोला अग्नि के सम्बन्ध से अग्नि के सदृश तेज अर्थात् अग्नि जैसा ही हो जाता है, परन्तु अग्नि सम्बन्ध हट जाने से वह सामान्य लोहे का गोला हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा भी उस परमात्मा के मुक्ति-आनन्द को भोग कर अवधि समाप्त हो जाने पर, जब उससे पृथक् हो जाता है तो जीवात्मा का अपना सामान्य अवस्था हो जाती है। वह संसार में आकर पुनः मुक्ति प्राप्त करने हेतु कर्म कर सकता है।

इस विषय में यह भी कहा जा सकता है कि जीवात्मा की चार अवस्थायें—जाग्रत, सुषुप्ति, समाधि और मोक्ष हैं। इनमें प्रथम तीन अवस्थायें सीमित हैं। तब चतुर्थ मोक्ष अवस्था असीम कैसे हो सकती है? अतः महर्षि दयानन्द का मुक्ति से वापिस लौटने का सिद्धान्त व्यवहारिक, तात्विक तथा यथार्थ पर आधारित है।

पद्मभूषण श्री तकषी शिवशंकर पिल्लै ज्ञानपीठ से समादृत

डा० विष्णुदत्त राकेश
पी-एच०डी०, डी०लिट्०
आचार्य, हिन्दी विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में जहाँ मनुष्य की आत्मान्वेषीवृत्ति को प्रमुखता मिली, वहाँ सामान्यजीवन में घटित प्रतिरोध, परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्व तथा उसका विघटित परिवेश भी उसमें प्रतिबिम्बित है। विभिन्न आर्थिक वर्गों के लोगों के ह्रासोन्मुख जीवन के चित्रण के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मानव का कई स्तरों पर विघटन हुआ है। मनोवैज्ञानिक यथार्थ एवं सामाजिक यथार्थ के प्रबल आग्रहों के कारण एक ओर मानसिक विकृतियों का चित्रण हुआ है, तो दूसरी ओर वर्गसंघर्ष और इतिहास की द्वन्द्वात्मकगति की अभिव्यक्ति का पक्ष प्रबल हुआ है। समाज के उखड़ते हुए ढाँचे और आर्थिक विपन्नता के कारण एक व्यापक रिक्तता का अनुभव हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं के कथा-साहित्य में दिखाई पड़ता है।

स्वातंत्र्योत्तर मलयालमी उपन्यासों में मुस्लिम तथा ईसाइयों के जीवन-स्तर पर, दलित तथा उपेक्षित वर्गों के जीवनसंघर्ष पर अच्छे कथा-साहित्य की रचना हुई। थकाजी, बशीत, केशवदेव और एस०के० पोट्टेकाट ने लघु-उपन्यास तथा कहानियों की रचना की। प्रारम्भ में बंगला उपन्यासों के प्रभाव से रोमांटिक उपन्यासों की रचना होती रही। अंग्रेजी कथासाहित्य का प्रभाव पड़ा तथा रूसी रचनाकारों के मलयालमी अनूवादों ने भी कथाकारों की सोच में परिवर्त्तन किया। समकालीन जीवन की समस्याओं पर तकषी के थोट्टियुदे मकन (भंगी का लड़का), रंदि दु ंगाजी (दो नाप) तथा पोट्टेकाट के मूडपटम् (घू ंघट) उपन्यासों ने मलयालमी-साहित्य की परम्परित चेतना को ही बदल दिया। सामाजिकयथार्थ की धारा को अवतरित करने का श्रेय तकषी को ही है।

केरल में अलप्पी से १५ किलोमीटर दूर तकषी नामक गाँव में एक किसान-परिवार में अप्रैल १९१४ को श्री पिल्लै का जन्म हुआ। इनके पिता कथकली के मर्मज्ञ थे तथा चाचा कुंज कुऊ कथकली के प्रख्यात नर्तक थे। उनकी पढ़ाई

अम्बाल खुआ में हुई और बाद में तिरुअनंतपुरम् से कानून की पढ़ाई की। हरिपद के करूवता हाईस्कूल के प्रधानाचार्य कनिखर कुमार पिल्लै से वे विशेष प्रभावित हुए। वह अपने समय के आलोचक और नाटककार थे। कानून की पढ़ाई के दिनों में केसरी के सम्पादक श्री बालकृष्ण पिल्लै की अध्यक्षता में गठित बुद्धि-जीवी सभा के सदस्य के रूप में साहित्यिक तथा राजनीतिक लोगों के सम्पर्क में आए। अब तक उन्होंने अंग्रेजी और योरोपीय साहित्य का गहरा अध्ययन कर लिया था। यहाँ रहकर उन्होंने अनेक छोटी कहानियाँ लिखीं। वेलापोखा-थिल (बाढ़ में) इन्हीं दिनों की लिखी गई कहानी है जो चर्चित हुई। प्रगतिशील साहित्यकार आन्दोलन के वह अगुआ थे। उनकी कहानियों का एक संकलन १९३४ में पुथुमालाव (नव-प्रस्फुटन) नाम से प्रकाशित हुआ तथा प्रतिफलम (पुरस्कार) पहला उपन्यास छपा, जिसके छपते ही वह मलयालमी क्षेत्र में चर्चा के विषय बने।

मलयालमी साहित्य में अब तक मध्यवर्गीय पात्रों का ही चित्रण होता था। थकाज़ी या तकषी पहले साहित्यकार थे जिन्होंने निम्नवर्ग को अपनी रचनाओं में प्रमुखता दी। त्रावनकोर में रहते हुए राष्ट्रीय संघर्ष में भी उन्होंने सक्रिय भाग लिया। त्रावनकोर–कोचीन में साक्षरता अधिक है और अंग्रेजी का प्रचार भी। ईसाई तथा पोप्ला मुस्लिमबहुल क्षेत्र में जातीयचेतना का जागरण तथा सामाजिकयथार्थ का प्रसार तकषी से पूर्व न था। स्वाधीनता आन्दोलन के साथ जुड़ जाने पर वह सरकार के कोपभाजन बने तथा गिरफ्तारी का वारंट जारी होने पर भूमिगत हो गए। थोट युटे माकान (भंगी का लड़का) अस्पृश्यता की समस्या पर लिखा गया उपन्यास इन्हीं दिनों की रचना है। निम्नवर्ग की विपन्नता के जीवंतचित्रण ने मलयाली समाज को झकझोर दिया। हिन्दी में मेहतरों के जीवन पर १९७७ में श्री अमृतलाल नागर ने 'नाच्यौ बहुत गोपाल' की रचना की। उन्हीं के साक्ष्य पर १९१४ की सरस्वती में श्रीयुत हीरा डोम की कविता अछूत की शिकायत छपी और यह शायद हिन्दी–क्षेत्र की पहली रचना थी। महात्मा गांधी के देशव्यापी हरिजन आन्दोलन ने भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को नई चेतना दी।

१९४८ में श्री पिल्लै का प्रख्यात उपन्यास 'रतितान्ता जी' (दो सेर धान) प्रकाशित हुआ। भूस्वामी–जमीदार तथा खेतिहर मज़दूर के सम्बन्धों को लेकर लिखी गई यह रचना कृषकजीवन् की त्रासद स्थितियों का चित्रण करती है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने स्वयं कहा है मैंने किसान के बेटे के रूप में जो कुछ देखा और भोगा है, उसी का चित्रण किया है। प्रेमचन्द और ताराशकर वन्दोपाध्याय की परम्परा का यथार्थवादी चित्रण रतितान्ता जी में मिलता है।

१९५६ में केरल के समुद्री किनारों पर बसे मछुओं की बस्ती के क्रिया-कलापों को ध्यान में रखकर उन्होंने 'चेमीन' उपन्यास लिखा। धरती का कड़वा

यथार्थ मछुओं की निर्धनता के बहाने उकेरा गया है। सामुद्रिक तूफान, प्राकृतिक प्रकोप तथा शोषण से त्रस्त मछुओं के जीवनसंघर्ष की इस कथा में लोक-मान्यताएँ पूरी ईमानदारी के साथ मुखरित हुई हैं। समुद्र की देवी कटलम्मा के संरक्षण तथा विनाश के मिथ के सहारे नियतिवाद पर चोट की गई है। एक मुस्लिम व्यापारी परिकुट्टी के साथ करुथम्मा के प्यार की कहानी यथार्थ और रोमांस के साथ इस रचना में चित्रित हुई है। आदिममूल्यों के संसार में ले जाती है यह रचना हमें। गरीबी, सरलता, आस्था और संघर्ष की एक करुण कहानी उपन्यास के ताने-बाने में बुनी गई है। रामू करियात ने इस कथा पर फिल्म बनाई और उस पर १९६५ में राष्ट्रपति पदक मिला। १९६४ में एनीपडिकल (पायदान) पर साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। उनकी दो रचनाएँ इदवित्थनम (मध्यमवर्ग), आरमायुदे थीरंगल (स्मृति के किनारे) प्रकाशनाधीन हैं। एनीपडिकल तथा कयार उनकी वृहत् रचनाएँ हैं। कयार में कोचूपिल्लै से लेकर नक्सलवादी सलिल तक की छह पीढ़ियों के लगभग हजार चरित्रों का चित्रण इस रचना में हुआ है। उनकी रचनाओं पर मोपाँसा और चेखव का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। मलयालम में हार्डी, फ्लाबेयर, तालस्ताय, गोर्की तथा पर्लबक के साथ प्रेमचन्द, किशनचन्दर तथा अब्बास की रचनाओं के भी अनुवाद हो चुके हैं। श्री पिल्लै ने लगभग ३५ उपन्यास तथा ५०० कहानियाँ लिखीं हैं। इनकी रचनाओं का भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। मंगलवार ३० जुलाई, १९८४ को ज्ञानपीठ न्यास ने उनके समूचे लेखन पर डेढ़ लाख रुपये का भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार घोषित कर यह सिद्ध किया है कि दरिद्रनारायण की शब्द-उपासना करने वाला साहित्य धन्य है और यही साहित्यकार जीवन के निकट है जो देवलोक के पारिजात की अपेक्षा धरती की गंदगी और धूल में मानवमन की गहराइयों की खोज करता रहा है। 'मुरझायो कमल' लिखने वाला व्यक्ति पद्मभूषण से विभूषित हुआ। ऐसे सामान्य-जनजीवन से जुड़े मलयामल के युगचेता-साहित्यकार तकषी शिवशंकर पिल्लै को अनेक बधाइयाँ।

निकष पर

(पुस्तक समीक्षा)

पुस्तक का नाम—जायसी-काव्य : प्रतिभा और संरचना
लेखक —डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त
प्रकाशक —भाषा-साहित्य-संस्थान, इलाहाबाद
पृष्ठ संख्या —३१९
मूल्य —रु० ८०-००

काव्य एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसमें काव्यचेतना, काव्यरस तथा काव्य-शिल्प के समन्वय का प्रतिफल रहता है। काव्यचेतना का संबंध काव्य के वर्ण्य-विषय से, काव्यरस का रागतत्त्व से तथा काव्य-शिल्प का सम्बन्ध काव्य-विधान से होता है। कवि के सूक्ष्म प्रतिरूप की अभिव्यक्ति काव्य है। व्यक्ति के हृदय में संचित अनुभव के दो पक्ष हैं—आभ्यन्तर तथा बाह्य। अनुभव में जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वह अनुभव का आत्मपक्ष है। अनुभव के अन्तर्गत जो बिम्ब, भाव अथवा विचार प्रस्तुत होते हैं, वे बाह्य पक्ष के संकलित, परिमार्जित रूप हैं।

जायसी हिन्दी-सूफी काव्य के श्रेष्ठ कवि हैं। सूफीसाधना एवं साहित्यिक-सौन्दर्य की दृष्टि से जायसी-काव्य का विशिष्ट महत्त्व है। जायसी-काव्य के सम्पादित संस्करणों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० शिवसहाय पाठक एवं श्री अमरेश के संस्करण प्रमुख हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' का विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व है। जायसी को प्रतिष्ठित करने का सारा श्रेय शुक्ल जी ही को है। जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, तत्कालीन उपलब्ध तथ्यों की दृष्टि से आलोचना तथा अनुसंधान की दृष्टि से एक उत्कृष्ट कृति है। इसमें जायसी के विषय-पक्ष का विवेचन किया गया है। शुक्ल जी ने जायसी के जीवनवृत्त, पद्मावत की कथा एवं उसके ऐतिहासिक आधार, प्रेमपद्धति, वियोग-पक्ष, संयोग-श्रृंगार, ईश्वरोन्मुख प्रेम, प्रेमतत्त्व, मत तथा सिद्धान्त और रहस्यवाद का सूक्ष्म एवं सराहनीय विश्लेषण किया है। कवि की भाषा, प्रबन्ध-कल्पना, वस्तु-वर्णन, अलंकार तथा भाव-व्यंजना का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित जायसी-ग्रन्थावली प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक पाठानुसंधान की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। इनके पद्मावत का, जायसी के अर्थ-सौन्दर्य के उद्घाटन की दृष्टि से विशिष्ट एवं ऐतिहासिक महत्त्व है। परिशिष्ट में प्रतिपादित पद्मावत की व्युत्पत्ति सहित शब्दानुक्रमणिका भाषाध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। भूमिका में पद्मावत के रचनाकाल, ऐतिहासिक कथा-प्रसंग, जीवन-दर्शन तथा सम्बद्ध समस्याओं का विवेचन है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' अर्थानुसंधान की दृष्टि से अनुपम संस्करण है। प्राक्कथन में ही सांस्कृतिक दृष्टि से कतिपय पाठान्तरों का अत्यन्त सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया है तथा जायसी के जीवनवृत्त, गुरु-परम्परा एवं आध्यात्मभावना का अत्यधिक विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण किया है। पं० शिवसहाय पाठक द्वारा सम्पादित चित्रलेखा का ऐतिहासिक महत्त्व है। श्री 'अमरेश' सम्पादित कहरानामा तथा मसलानामा जायसी-काव्य-सम्पादन के क्रम में एक विकास-चिन्ह हैं। जार्ज ग्रियर्सन तथा सुधाकर द्विवेदी और डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित संस्करणों की भूमिकाएँ भी उल्लेखनीय हैं। ग्रियर्सन ने जायसी की छन्दयोजना तथा भाषा के व्याकरण का संक्षेप में निरूपण किया है। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्रीसम्पादित संस्करण में श्री टेकचन्द जी का प्राक्कथन तथा शासनी का आमुख संकलित है जिसमें जायसी का जीवनवृत्त, धार्मिक सहिष्णुता तथा कथावस्तु पर विचार व्यक्त हैं, अन्त में निरूपित कतिपय शब्द तथा उनकी व्युत्पत्ति दी गई है। बाद में चलकर तो बहुत से स्वतन्त्र एवं शोधग्रन्थ जायसी-काव्य पर लिखे जाने का क्रम ही आरम्भ हो गया। इसी क्रम में डा० हरिहरप्रसाद गुप्त का 'जायसी काव्य : प्रतिभा और संरचना' एक उपयोगी कृति है जो उपर्युक्त संपादित संस्करणों में से डॉ० माता-प्रसाद गुप्त के संस्करण की अगली कड़ी के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। वस्तुतः अभी तक जो भी सामग्री जायसी अथवा जायसीकाव्य सम्बन्धी आई है, वह सभी इन संस्करणों पर ही आधारित है।

अपनी कृति में डॉ० गुप्त ने पाठक को पाठ्य, उसकी संरचना-प्रक्रिया, शैली-कल्पना आदि से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इसलिए काव्य के एक संदर्भ-प्रसंग अथवा किसी अर्द्धाली को आधार बनाकर उसके तत्त्व, संरचना आदि अंगों पर विचार व्यक्त किया है। जायसी की प्रतिभा-संरचना का समन्वित रूप प्रस्तुत करना लेखक का लक्ष्य है। अनेक स्थलों पर भाव-निरूपण एवं शब्दार्थ विवेचन किया गया है। लेखक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुज हैं, अतः उनकी छाप उचित ही है और उनके कार्यों को आगे बढ़ाने का प्रयास भी।

जायसी की कविता की इकाई या संश्लिष्टता का बोध कृतिकार ने कवि की भाषा एवं दर्शन के विश्लेषण, विवेचन के साथ प्रस्तुत किया है। पद्मावत में इतिहास, वास्तविकता, प्रेम, स्वप्नचित्र का सम्मिश्रण है और कवि भी सभी पक्षों के संश्लिष्ट अंकन में सफल है। अतः काव्य में सौन्दर्य का प्रस्तुतीकरण आवश्यक है। पद्मावत विरह से शुरू होकर मिलन में समाप्त होता है और बाद में मृत्यु, जिसे कवि प्रेम के अनश्वर रूप को दिखाते हुए दूसरे लोक में पति-पत्नी के मिलन की आशा व्यक्त करता है, जिसकी व्याख्या डॉ० गुप्त ने बड़े ही सुन्दर एवं समन्वित रूप में व्यक्त की है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से पद्मावत में गौड़ी, पांचाली और वैदर्भी अर्थात्

ओज, माधुर्य और समता-ऋजुता-सरसता आदि तीनों गुणों से समन्वित है। कवि ने शब्द-चयन, वास्तविक अर्थ, शब्द-समूह की विविधता, अनुभूति की तीव्रता, वस्तु-पक्ष की विशदता तथा सुश्रृंखलता, श्लेष, समाधि-वक्रता-ध्वनि सभी पक्षों पर डॉ० गुप्त ने अपनी समीक्षा में विचार व्यक्त किया है। साथ ही भाषा के संरचनात्मक अध्ययन एवं साहित्य की संश्लिष्टता को प्रमुखता के साथ प्रस्तुत किया है।

स्वानुभूत जीवन की रचना, कल्पना द्वारा पुनर्कृति है। यथार्थवादी शिल्प के अन्तर्गत रचना, यथार्थ के नियमानुसार यथार्थ के प्रतीकों की क्रमिक रचना प्रस्तुत करती है। डॉ० गुप्त ने कवि एवं कृति को समष्टि रूप में देखा, समझा है। शैली का, कवि और पाठक दोनों से सम्बन्ध मानकर लेखक ने भाषा-भाव के अन्योन्याश्रय संतुलन को प्रकट किया है। जगह-जगह पर भावार्थ भी दिए गए हैं, साथ ही कथ्य एवं रूप की यथार्थता एवं चारुत्व को भी उद्घाटित किया गया है। डॉ० गुप्त ने संवेदना की बोधात्मक प्रतीति को भाषिक-विश्लेषण या शैली-विज्ञान के आधार पर प्रस्तुत किया है। शब्द, शब्द-संरचना, उसमें अन्तर्निहित भाव एवं शब्द-प्रयोग का संदर्भ-साहचर्य से सम्बन्ध आदि को भी डॉ० गुप्त ने संस्कृति एवं परम्परा की धारा से जोड़ने का प्रयत्न किया है। और कला तथा जीवन का संतुलित-संश्लिष्ट-समन्वित स्वरूप के आधार पर समीक्षा प्रस्तुत की है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि यह अपने ढंग का मौलिक ग्रन्थ है जिसमें जायसी-काव्य का व्यवस्थित रूप विवेचित हुआ है। इसमें जायसी-काव्य के सभी पक्षों का उद्घाटन होता है जिससे डॉ० गुप्त ने अनुसंधान की दिशा को गति एवं दृष्टि दी है।

—भगवानदेव पाण्डेय

पुस्तक का नाम—**प्रतिमा विज्ञान**
लेखिका —**डा० इन्दुमति मिश्र**
प्रकाशक —**मध्य-प्रदेश ग्रन्थ अकादमी, भोपाल**
पृष्ठ संख्या —**३८८**
मूल्य —**१५ रुपये**

प्रतिमा-विज्ञान पर भारतीय एवं विदेशीय साहित्य में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। प्रतिमा-विज्ञान भारतीय धार्मिक-भावनाओं से जुड़ा हुआ है, जिसका प्रभाव भारतीय जीवन एवं सांस्कृतिक कार्य-कलापों पर स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होता है। अतएव मनीषी लेखिका ने विभिन्न धर्मों को आत्मसात किये धार्मिक साहित्य में से वैष्णव-संप्रदाय से सम्बन्धित पुराणों को इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु के रूप में अपनाया। पुराणों का अध्ययन भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने विभिन्न विषय-वस्तु को लेकर किया है, लेकिन प्रतिमा-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन एक तरह से अछूता ही रहा। अतएव डॉ० इन्दुमति मिश्र का विषय-चयन निस्सन्देह सर्वथा नवीन एवं प्रशंसात्मक है।

पुराणों में अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख किया गया है, जिसमें विष्णु एवं उनके दश अवतारों का विशेष वर्णन किया गया है। शिव, सप्त-मातृकायें, नवग्रह एवं दिक्पाल आदि सभी का समावेश इस कोटि में किया गया है। फलस्वरूप सम्बन्धित साहित्य की एक लम्बी तालिका उपलब्ध है। लेकिन वैष्णव सम्प्रदाय की प्रचलित मान्यताओं के अन्तर्गत वैष्णव सम्प्रदाय सम्बन्धी पुराणों का निर्धारण लेखिका का सराहनीय योगदान है।

सात परिच्छेदों में विभाजित ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में पौराणिक साहित्य का विशद सर्वेक्षण एवं वैष्णव साहित्य का निरूपण किया गया है। द्वितीय एवं तृतीय परिच्छेदों में प्रतिमा के लक्षण, द्रव्य, भेद एवं उत्तरोत्तर विकास का गहन वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद में त्रिमूर्ति की परिकल्पना, समन्वय का वर्णन, विशेष रूप से विष्णु एवं विष्णु की चौबीस प्रकार की प्रतिमायें, अवतार एवं कुछ विशिष्ट मुद्रा-प्रतिमाओं का गहन विवेचन किया गया है। शिव प्रतिमायें—लिंग-प्रतिमायें एवं मानवीय प्रतिमायें—का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत है। त्रिमूर्ति की तीसरी संज्ञा ब्रह्मा के सन्दर्भ में लेखिका का मौन असंगत प्रतीत होता है।

पंचम अध्याय में सूर्यमण्डलीय ग्रहों की विवेचना की गयी है। षष्ट अध्याय में दिक्पाल का अध्ययन भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सप्तम

परिच्छेद में कनिष्ट कोटि के देवताओं, यथा गन्धर्व, किन्नर, विद्याधर, नाग आदि का वर्णन व्यन्तर देवताओं के अन्तर्गत किया गया है।

देवताओं के अंगप्रत्यंग, वस्त्राभूषण, आयुध एवं वाहन का परिचयात्मक वर्णन परिशिष्ट के अन्तर्गत किया गया है।

पुराणों में उपलब्ध प्रतिमा-विज्ञान की सामग्री के वैज्ञानिक विवेचन को आवश्यक उदाहरणों से पुष्टित किया गया है। समुचित साहित्यिक आधार-भूत-ग्रन्थ में अपूर्णता का आभास भी परिलक्षित होता है, यथा-पौराणिक-प्रतिमा-विज्ञान तत्कालीन एवं उत्तरोत्तर काल में भारतीय कलाकार द्वारा कितना अपनाया गया इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। अच्छा होता अगर लेखिका कुछ प्रतिमाओं का अध्ययन एवं समन्वय करके तुलनात्मक चित्रण प्रस्तुत करतीं तो ग्रन्थ की महत्ता ही कुछ और होती।

वस्तुस्थिति पर दृष्टिपात करके यह स्पष्ट है कि पुस्तक विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों के लिये सहायक-ग्रन्थ के रूप में उपयोगी सिद्ध होगी। इस दृष्टि से पुस्तकालय में भी संग्रहणीय है।

—सूर्यकान्त श्रीवास्तव
क्यूरेटर
गु० कां० पु० संग्रहालय
